सिद्धयोग

संस्थापक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का
प्रतिपादक मासिक

वर्ष : 40; अंक : 3
जून 2007

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाँई-283202 आगरा) उ.प्र.

अमृतकण

संस्कृतस्य हि दान्तस्य नियतस्य यतात्मन:।
प्राज्ञस्यानन्तरा सिद्धिरिहलोके परत्र च।।

—महाभारत

जिसके वैदिक संस्कार विधिवत् सम्पन्न हुए हैं, जो नियमपूर्वक रहकर मन और इन्द्रियों पर विजय पा चुका है, उस विज्ञ पुरुष को इहलोक और परलोक में कहीं भी सिद्धि प्राप्त होते देर नहीं लगती।

जीर्यन्ति जीर्यत: केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यत:।
जी विताशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति।।
अनन्तपारा दुष्पूरा तृष्णा दोषशतावहा।
अधर्म बहुला चैव तस्मात्ता परिवर्जयेत्।।

—पद्मपुराण

जब मनुष्य का शरीर जीर्ण होता है, जब उसके बाल पक जाते हैं और दाँत भी टूट जाते हैं; किन्तु धन और जीवन की आशा बूढ़े होने पर भी जीर्ण नहीं होतीवह सदा नयी ही बनी रहती है। तृष्णा का कहीं ओर-छोर नहीं है, उसका पेट भरना कठिन होता है। वह ढेरों दोषों को ढोये फिरती है। उसके द्वारा बहुत से अधर्म होते हैं, अत: तृष्णा का परित्याग कर दें।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग: शान्ति पैशुनम्।
दया भूतेष्व लोलुप्तवं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।

—श्रीमद् भागवत् गीता

मन, वाणी और शरीर से किसी भी प्रकार से किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण करना, अपने प्रति अपकार करने वाले पर भी क्रोध न करना, कर्तापन का अहकार न करना, अन्त:करण की उपरति अर्थात् चंचलता, आसक्ति, क्रूरता आदि दुराचारी गुणों का अभाव होना आदि अच्छी आचार संहिता के लक्षण हैं।

बुद्धिर्यस्य बलतस्य निर्बुद्धेश्च कुतोबलम्

—चाणक्य

संसार में जिसके पास बुद्धि है वही बलवान है क्योंकि बुद्धि के बल पर ही मनुष्य, जड़-चेतन सभी पर शासन करता है।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

वर्ष : 40
अंक : 3

जून
2007

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वधियो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं
स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/12

अर्थात्

जो रुद्र इन्द्रादि देवताओं को उत्पन्न करने वाला और बढ़ाने वाला है तथा जो सबका अधिपति और महान ज्ञानी (सर्वज्ञ) है। जिसने सबसे पहले उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ को देखा था, वह परमदेव परमेश्वर हम लोगों को शुभ बुद्धि से संयुक्त करे।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG
HINDI MONTHLY

संस्थापक :
योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य (डा.) दारालाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक :
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष
एवं गुरु भाई–बहिन

इस अंक में ...

1. विशेष लेख – योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज 3
2. सम्पादकीय 13
3. अष्टांग योग साधना – डॉ. ऋषिराम शर्मा 17
4. महाभारत में योग विद्या – डॉ. राजकुमारी त्रिखा 21
5. अन्तर्मन में अजपा का महत्व– श्री रामेश्वर खण्डेलवाल 26
6. कोई बताओ – श्री आर.पी. श्रीवास्तव 28
7. मोहन मोहन में रमे– श्री अशोक द्विवेदी 29
8. साधक और गुरु : विश्वास का बंधन– श्री धृष्टिकेतु सिंह पुण्डीर 30
9. जीवात्मा और परमात्मा की एकता – पं. हरिकृष्ण झा 32
10. नयनों की भाषा वरदान है – निर्मल चन्देल 34
11. आरोग्य प्रदाता प्रकृति के अष्टरूप – डॉ. रामकिशोर मिश्र 35
12. निष्काम कर्मयोग – मोक्ष का द्वार – प्रो. गोपालचन्द्र मिश्रा 38
13. जीवात्मा व परमात्मा का नित्य संबंध 40

एक प्रति	: रु. 11.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 120.00
द्विवार्षिक	: रु. 210.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 850.00

• विशेष लेख

संयम एवं सिद्धियां

योग–योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

मनुष्य अपने प्रयत्न से अष्टांग योग की साधना करता हुआ क्रमशः धारणा, ध्यान, समाधि का अभ्यास करता हुआ अपने मन को संयमित कर सकता है। अष्टांग योग का अर्थ है कि वह महामुनि पतंजलिदेव के बतलाये हुए योग के आठों अंगों की साधना बाकायदा करता हुआ अपने पुरुषार्थ से समाधि को प्राप्त होकर संयम तक पहुँच जाये। यह स्थिति साधक अपने प्रयत्न से ही प्राप्त कर सकता है एवं गुरुदेव की महान कृपा को पाकर तो सब कुछ सम्भव हो ही जाया करता है। श्री गुरुदेव के परम अनुग्रह से या अपने प्रयत्न से जिस भी प्रकार से मनुष्य उद्यम के साथ अपने आपको संयम तक बढ़ाते हैं फिर उनके लिए सिद्धियों का द्वार खुल जाता है। सिद्धि मनुष्य की अपनी शक्ति है। शक्ति ही सब कामों में प्राणी मात्र की लक्ष्यीभूत बनी रहा करती है। संसार में जन्म लेने वाले हर व्यक्ति का सिद्धि प्राप्त करना ही स्वाभाविक लक्ष्य रहता है क्योंकि सिद्धि ही उसका अपना बल है। हमारे ऋषि स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

अर्थात् आत्मपद की प्राप्ति बलहीन मनुष्य को नहीं हुआ करती अतः यह परम आवश्यक है कि मनुष्य ज्यों–ज्यों किसी भी प्रकार अपनी साधनाओं की ओर प्रगति करे त्यों–त्यों ही उसका सिद्धि भाजन हो जाना भी निहायत आवश्यक है। सिद्धियों के विषय में हमें योग दर्शन बतलाता है:–

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः

अर्थात् प्रातिभज्ञानादिक सिद्धियाँ जब योगी को पैदा होती हैं व समाहित चित्त में उपसर्गीभूत मानी जाती हैं। किन्तु वे ही सिद्धियाँ समाधी से अतिरिक्त उत्थानावस्था के चित्त में सिद्धियाँ ही होती हैं। योगी का मन ज्यों–ज्यों एकाग्र होता चला जाता है, त्यों–त्यों वह सिद्धि भाजन बनता चला जाता है और वे सिद्धियाँ ही योगी का अपना बल होती हैं। योग–दर्शन के उपरोक्त सूत्र का आधारभूत लेकर बहुत से लोग सिद्धि प्राप्ति की निन्दा किया करते हैं किन्तु बात इस प्रकार की है नहीं। ज्यों–ज्यों योगी अन्तर भूमिकाओं में प्रवेश करने लगेगा त्यों–त्यों ही उसका मन सिद्धिभाजन बनता चला जायेगा। बहुत सी सभाओं में हमने लोगों को सिद्धियों की निन्दा करते देखा है। उन लोगों का कहना होता है कि मनुष्य को सिद्धियों के चक्र में नहीं पड़ना चाहिए। जो लोग सिद्धियों के अभ्यास में लगे रहते हैं वे लोग अपने समाधि मार्ग से पीछे हट जाया करते हैं। यह बात उसी दशा में कही जा सकती है जबकि मनुष्य शास्त्रोक्त सिद्धान्तों को न समझता हो। शास्त्र–ज्ञाता पुरुष कोई भी इतनी बड़ी भूल की बात अपनी वाणी से नहीं कहेगा। उपरोक्त

सिद्धान्त को सामने रखने वाला व्यक्ति संसार मे बिल्कुल अकर्मण्य रहेगा क्योंकि उसको हर समय यह भय रहेगा कि जब भी शरीर में किसी प्रकार का बल होगा या किसी सिद्धि–शक्ति का उदय होगा उससे लोगों के अनिष्ट होने का भय बना रहेगा या साधक मान–अपमान के झमेले में पड़ सकता है। धीर पुरुषों को कभी–कभी इस प्रकार के कायरता वाले संस्कारों को अपने मन में उठने नहीं देना चाहिये। एक पहलवान खाता है, पीता है, हजारों प्रकार के व्यायाम करता है, उसके शरीर में अतुल बल बढ़ता है। कदाचित वह पहलवान अपने मन के अन्दर यह विचार करे कि शरीर मे बल बढ़ाना उपयुक्त नहीं है क्योंकि बल हो जाने पर जिसको चाहे दण्ड दिया जा सकता है, मारा पीटा जा सकता है। इसलिए अच्छा यही है, कहीं इस बात से किसी का अनिष्ट न हो जाये, अतः बल रहित ही बना रहना चाहिए। यह कायरों का सिद्धान्त है। आज से लगभग 90–100 वर्ष पहले कुछ साधुओं ने इस प्रकार के सिद्धान्त की कल्पना की थी कि इस प्रकार के भावों का प्रचार किया जाये कि जो पढ़ेगा वह भी समय आने पर मर ही जायेगा और जो अनपढ़ मूर्ख रहेगा वह भी समय आने पर मर ही जायेगा, इसलिए व्यर्थ शास्त्र के अभ्यास के अन्दर इतना लम्बा समय क्यों खराब किया जाये। आलसी और उत्साह रहित लोगों के इन विचारों ने समाज का बड़ा अनिष्ट किया और उनके पग–पग चमकने वाले उज्ज्वल जीवन को मृण्मय बना दिया। अतः सिद्धियाँ मनुष्य का बल है। और जो व्यक्ति बलहीन है उसको कभी भी आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य को "येन केन उपायेन" अपने अन्दर शक्ति का विकास करना चाहिये एवं सिद्धि शक्तिवान् होना चाहिए। किन्तु जिस प्रकार एक स्वस्थ एवं बलिष्ठ मनुष्य शरीर के बल होने पर एवं हाथ में कृपाण रहने पर भी वह किसी को मारता–काटता नहीं फिरता किन्तु ठीक समय पर सदुपयोग के लिए अपनी उस ताकत को सम्भाले रहा करता है, जो समय आने पर उसकी सहायक हुआ करती है। समय के आधार पर मनुष्य जिस–जिस प्रकार से सिद्धियाँ प्राप्त करता है, उसका वर्णन इसी लेख में आगे चलकर करेंगे उससे पहले अन्याय से जो शास्त्र समविधान से जो सिद्धियाँ उपलब्ध हुआ करती हैं उसका थोड़ा सा वर्णन कर देना उपयुक्त समझते हैं। योग दर्शन मे कैवल्य पाद के प्रथम सूत्र में भगवान पतञ्जलिदेव ने विविध उपायों से होने वाली सिद्धियों का वर्णन किया है।

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।

अर्थात् कुछ सिद्धियाँ प्राणी को जन्म के साथ उपलब्ध हुआ करती हैं। कुछ सिद्धियाँ औषधियों से एवं कुछ सिद्धियाँ मंत्र, तप एवं समाधि के द्वारा प्राप्त हुआ करती हैं। इस सूत्र पर भाष्य करते हुए भगवान् व्यासदेवजी निम्नांकित पंक्तियाँ लिखते हैं।

देहान्तरिता जन्मना सिद्धिः औषधिभिर सुरभवनेषु रसायनेत्येवमादि मन्त्रैराकाशगमनाणिमादि लाभः तपसा संकल्पसिद्धिः कामरूपी यत्र तत्र कामगइत्येवमादि समाधिजाः सिद्धयो व्याख्याताः॥

जन्मजासिद्धि

अर्थात् देहान्तरिता जन्मजा सिद्धि का अर्थ है पूर्व जन्म के अर्जित पुण्य के प्रभाव से इस जन्म में सांसिद्धिक ज्ञान का हो जाना, जैसे भगवान कपिलदेव आदि को हुआ। इस सिद्धि का

संकेत समाधि पाद के 19 वें सूत्र में भगवान पतंजलिदेव ने किया है:–

भवप्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्।

अर्थात् विदेहानाम् प्रकृतिलयानाम च योगिनाम भव प्रत्ययो भवति। अर्थात् जो लोग देवलोक से आकर जन्म लेते हैं और प्रकृतिलीन योगी जिनको अपने साधन में अपूर्णता के कारण संसार में पुनः जन्म लेना पड़ता है इनको जन्म से ही पाँच दैहिक ज्ञान की प्रतीती हो जाया करती है। इस विषय का पूरा–पूरा संकेत अखिल लोक पावन विश्वात्मा भगवान श्री कृष्णचंद ने गीता के छठे अध्याय में इस प्रकार से किया है। अर्जुन ने भगवान श्री कृष्ण से प्रश्न किया :-

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलित मानसः।
अप्राप्य योग संसिद्धि कां गति कृष्ण गच्छति।।
कच्चिन्नोभय विभ्रष्टश्छिन्ना भ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।
एतन्मे संशय कृष्णछेत्तु महेस्यशेषत्।।
त्वदन्य संशयस्यास्यछेत्ता न ह्युपपद्यते।।

अर्थात् जो व्यक्ति श्रद्धा युक्त है और योग साधना की पूर्णता के बिना ही प्रमादवश जिसका मन विचलित हो चुका है वह योग संसिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है? कहीं ऐसा तो नहीं होता जैसे आकाश में फूटे हुए बादलों के समान वह ब्रह्म मार्ग से भ्रष्ट हो जाया करता है। इसलिए हे श्री कृष्ण ! आप कृपा करके मेरे इस संशय का नाश करें। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित श्लोकों में इस प्रकार दिया:–

पार्थनैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
नहि कल्याण कृत्कश्चिद् दुर्गतिंतात गच्छति।।
प्राप्य पुणयकृता लोकानुषित्वाशाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।
तत्र न बुद्धि संयोग लभते पौर्व देहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरूनन्दन।।
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपिसः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते।।

अर्थात् भगवान श्री कृष्णजी ने उत्तर दिया कि हे अर्जुन ! ऐसे व्यक्ति का इस लोक और परलोक में कभी भी नाश नहीं होता। कल्याण मार्ग पर चलने वाला कोई भी व्यक्ति दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। जिसने इतनी तीव्रतम साधना की है और किसी अन्तराय से वह परम श्रेय भागी नहीं बन सका तो भी वह पुण्यात्माओं के पवित्र लोक में पवित्र धनवानों के घर में अथवा योगियों के कु

घरों में जन्म ले लिया करते है। इस प्रकार का जन्म भी इस मनुष्य लोक में अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य लोक में इस प्रकार का जन्म प्राप्त कर लेने के बाद वहां पर उसको पुनः पौर्वदैहिक बुद्धि संयोग प्राप्त हो जाया करता है जिसको प्राप्त करके वह ध्वक अपनी साधना को पूर्ण करने के लिए पुनः प्रयत्न करता है और उसका वह पूर्व जन्म में किया हुआ अभ्यास है। वह पूरी–पूरी प्रेरणा देकर इसी अभ्यास में संयुक्त कर देता है विवश होकर के साधक को वह पूर्व अभ्यास करना पड़ता है। इस पवित्र योग का अभ्यासी भी शब्द ब्रह्म के दायरे से (अर्थात् कर्मकाण्ड के दायरे से) अनायास ही ऊपर उठ जाया करता है।

जगदात्मा भगवान श्री कृष्ण का यह संकेत भव प्रत्यय का संकेत है। इसी को भगवान पतंजलिदेव ने देहान्तरिता सिद्धि के रूप में वर्णन किया है क्योंकि ये सिद्धि पूर्व जन्मारजित है। इसी योगी को इस जन्म में कोई विशेष अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

एक उदाहरण

हमारे दिल्ली के योग प्रचार कार्यक्रम में जबकि हम दिल्ली में प्रो. ऋषिराम की कोठी पर ही योग प्रचार कार्यक्रम चल रहा था उस समय उन्हीं के हिन्दू कालेज में अध्ययन करने वाला एक छात्र इस प्रकार का आया जिसने बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में बतलाया जिसको पौर्व दैहिक बुद्धि संयोग से भगवान् विष्णु के चतुर्भुज दर्शन चिन्तनमात्र से हर समय होते रहा करते हैं ये उसके देहान्तर में उपार्जित किये हुये पुण्य का फल था। जो इस जन्म में अनायास ही उसके सामने प्रगट रहता था वैसे इस प्रकार की स्थिति को उपलब्ध करने के लिये सहस्त्रों साधक प्रयत्नशील रहा करते हैं यह आभ्यान्तर धारणा के द्वारा भगवान् के स्वरूप को हृदयंगम करने के लिये पूरे–पूरे प्रयत्नशील रहा करते हैं। घण्टों लगातार मानस पूजन करते है। तीव्रतम तपश्चर्या एवं स्वाध्याय पूर्वक स्थिति को सम्पादन करने के लिये प्रयत्नशील रहा करते है किन्तु; धीर प्रयत्न करने पर भी इस प्रकार की स्थिति को प्राप्त नहीं कर पाते। किन्तु उस विद्यार्थी को पूर्व जन्म के अभ्यास के फलस्वरूप यह स्थिति इस जन्म में जन्म लेने के बाद अनायास स्वतः ही प्राप्त थी। यही देहान्तरिता सिद्धि शुद्ध स्वरूप है। कोई–कोई भाष्यकार या अनुभवी साधु जन्म–सिद्धि का स्वरूप दूसरे रूपों से भी बतलाते है जैसे पक्षियों को स्वतः ही आकाश गमन प्राप्त होता है। यह भी उनके इसी पौर्व दैहिक कर्म के ही फलस्वरूप उनको यह जन्म धारण करके आकाश गमन के लिये प्रयत्न करने की साधना नहीं करनी पड़ी। मछली और कछुए को स्वतः ही जल में श्वास लेने की शक्ति प्राप्त है। स्थल में रहने जीवों को यह ताकत प्राप्त नहीं होती, वे लोग यदि जल में डूबने का अभ्यास करेंगे तो उनको विशेष प्रकार के अभ्यास करने पड़ेंगे। जिनके फलस्वरूप वे इस ताकत को प्राप्त कर सकेंगे। अतः यह जन्म लेने के बाद स्वभाव से प्राप्त होने वाली सिद्धि का रूपक है। इसके बाद दूसरी कुछ सिद्धियाँ इस प्रकार की हुआ करती है जो दिव्य औषधियों से उपलब्ध करते है।

औषधिजा सिद्धियाँ

औषधिजा सिद्धि का अर्थ है दिव्य रसायनों का सेवन करने से शरीर के अन्दर जो विशेष प्रकार की शक्ति प्रगट हो जाती है वह औषधिजा सिद्धियें कहलाती है। जैसे साधारण संसार में

देखने में आता है पारे की योग की औषधियों के सेवन करने से मनुष्य बड़ी जल्दी दिव्य बल को पा लिया करता है। आम तौर पर शरीर में होने वाले रोगों की चिकित्सा डाक्टर और कुशल वैद्य किया करते हैं और उस रोग की निवृत्ति के लिये उन दिव्य औषधियों का सेवन कराया करते है। दिव्य औषधियों का सेवन करके रोगी का रोग नष्ट हो जाता है और शरीर में स्थाई बल प्राप्त हो जाया करता है। इसके अतिरिक्त पारद के कुछ और भी इस प्रकार के योग हैं जिनको विधिवत् सेवन करने पर मनुष्य आकाश गमन आदि ताकत को प्राप्त करता है। साधारणतया किसी को बुद्धि विकास के उपयोग के लिये वैद्य लोग दवाई रसायन आदि का सेवन कराया करते हैं। ब्राह्मी बूटी के सेवन करने से मनुष्य को क्या लाभ पहुँचते है ये सभी बातें तो व्यक्ति नहीं जानता किन्तु इतना ज्ञात तो लोगों को अवश्य है कि ब्राह्मी बूटी को दूध के साथ सेवन करने से मनुष्य का मस्तिष्क केन्द्रित होता है और उसको बुद्धिबल मिलता है। इसका बहुत से लोगों को अनुभव है। वे लोग अधिकांश में ब्राह्मी बूटी का सेवन किया करते है। भांग, धतूरा या गांजा आदि के सेवन करने से मनुष्य भारी मद को प्राप्त होता है। वह अपने बाह्य बोध से शून्य हो जाया करता है और बुद्धि विवेक से मुक्त हो जाता है। यह उन औषधियों में रहनेवाले प्रवाह का परिणाम है। जिसको मनुष्य तत्काल नहीं देख लेता है। हिमालय पर्वत की तराइयों में कुछ इस प्रकार की दिव्य बूटियाँ भी मिलती हैं जिनके प्रयोग से मनुष्य जल्दी ही अपने आपको समाहित कर लेता है किन्तु जिस प्रकार से सिद्ध पुरुषों के पास सहसा हर किसी के लिए जाना सम्भव नहीं होता उसी प्रकार दिव्य औषधियों की प्राप्ति भी हर व्यक्ति को सुलभ नहीं हुआ करती। दिव्य औषधियों का ही प्राप्त करना उतना ही कठिन है जितना हर व्यक्ति को सिद्धों के दर्शन पा जाना। किन्तु जो लोग स्वाध्याय शील हैं एवं ब्रह्मचर्य व्रत से रहने वाले हैं उनको इस प्रकार की औषधियां सुलभ हो जाया करती हैं।

एक उदाहरण

दक्षिण भारत के प्रसिद्ध योगिराज श्री नृसिंह मूर्ति जो मेरे छोटे गुरु भाई हैं। उन्होंने कुछ दिन पहले घटित हुई एक घटना का समाचार मुझे बतलाया, उनके दक्षिण प्रान्त में बड़े-बड़े दिव्य देव मन्दिर हैं जिनको देख करके मनुष्य को आत्म संतोष मिलता है। वहां पर किसी नगर के एक दिव्य मन्दिर में संस्कृत पाठशाला थी और उसके अध्यापक एक उच्च कोटि के विद्वान थे उनके घर में क्रमशः सात पुत्र उत्पन्न हुए और वो सभी एक से एक ऊँचे विद्वान बने किन्तु ज्यों ही वे युवा हुए त्योंही काल कवलित हो गये। इससे पंडित जी को बड़ा भारी कष्ट हुआ। अतः उन्होंने अपने सातवें बच्चे को बिल्कुल मूर्ख रख लिया ताकि विद्वत्ता को पाकर कहीं वह भी काल का ग्रास न बन जाये। वह बच्चा पण्डित के इस प्रयास से जिन्दा तो रह गया किन्तु अत्यन्त मूर्ख था। पंडित जी इसी चिन्ता के अन्दर रहा करते थे किन्तु स्वाध्यायशील व्यक्ति थे। स्वाध्यायशील व्यक्ति कभी खाली नहीं रहता। योगदर्शन हमें बतलाता है:-

स्वाध्यायायादिष्टदेवता सम्प्रयोग:।

अर्थात् स्वाध्यायशील व्यक्ति को इष्टदेव की कृपा अवश्य प्राप्त होती है। और उसके साथ-साथ इस सूत्र का भगवान व्यासदेवजी भाष्य करते हैं:-

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्तन्ते इति।

अर्थात् देवता, ऋषि और सिद्ध लोग स्वाध्यायशील व्यक्तियों के सामने जाया करते हैं और उसके काम कर दिया करते हैं। पंडित जी के तप और स्वाध्याय के फलस्वरूप कुछ समय व्यतीत हो जाने के बाद उनके घर में एक महात्मा आकर ठहरे, उन्होंने पंडित जी के उस पुत्र को मूर्ख देखा और उनके हृदय में बड़ा भारी दुःख हुआ और उनको दया आ गई। उनके पास विद्युल्लता नाम की दिव्य औषधि थी जिसके सेवन कराने से बच्चे का विद्वान हो जाना स्वाभाविक था। महात्माजी ने उस बच्चे को अपने पास बुला लिया और उसको विद्युल्लता नाम दिव्य औषधि का सेवन पवित्र गौ दूध से करा दिया। जिसके सेवन करने से वह बच्चा थोड़े दिन में ही अपने पिता के पढ़ाये हुए पाठ को सुनने मात्र से ही धारण कर लिया और वह अपने बुद्धि कौशल से पूर्ण विद्वान बन गया। एक रोज उसके पिता कहीं अन्यत्र गये हुए थे उनके बाद उसने पाठशाला जाकर विद्यार्थियों को शिक्षा देनी आरम्भ की। इतने में उसके पिता आगये और इस बात को देखकर उनको भी बड़ा आश्चर्य हुआ कि मेरा वह बच्चा जो मैंने मूर्ख रख दिया था, इतना विद्वान कैसे बन गया। बच्चे को सब बातें उसके पिता ने पूछी। उस बच्चे ने सत्य व स्पष्ट बतला दिया कि घर में अतिथि रूप में आये हुए महात्मा जी ने विद्युल्लता नाम की दिव्य औषधि का सेवन कराया है। जिससे उसका इतना बड़ा बुद्धि विकास बढ़ गया है जिसके फलस्वरूप वह सुनने मात्र से ही इतना बड़ा विद्वान हो गया है। यह वनी औषधि विद्युल्ल लता का प्रभाव था। इसी प्रकार की और भी कई एक दिव्य औषधियाँ अनुभवी महात्माओं को मिलती है। मेरे गुरु देव जी स्वयं अपने मुखारबिन्द से चान्द्रायण बूटी नाम की एक बूटी का अपने मुख से वर्णन किया करते थे। श्री प्रभु जी अपने मुखार बिन्द से कहा करते थे कि चान्द्रायण बूटी को सेवन करने से मनुष्य को अनायास ही समाधि प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है। वनों में रहने वाले साधु की तपश्चर्या के बाद इस बूटी को प्राप्त किया करते हैं। सुनते है चान्द्रायण बूटी की जड़ में एक भयंकर नाग हर समय निवास किया करता है। जो लोग इस बूटी को उखाड़ना चाहते हैं, वे लोग धीरे-धीरे जा करके इस बूटी को रेशम के धागे से सख्त बांध कर चले आया करते हैं। कदाचित सर्प की मार से वह लोग बच जायें तो इस बूटी को घोट कर पी लेने मात्र से उनका चित्त समाहित हो जाया करता है और तत्काल ही उनको दिव्यानुभूति प्रारम्भ हो जाया करती है फिर शनैः शनैः समाधि प्रज्ञा निर्मल होती रहती है और वे लोग भी समाधि को प्राप्त हो जाते हैं अतः औषधियों से भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यह अवश्यम्भावी बात है।

मन्त्रजा सिद्धियाँ

मन्त्रजा सिद्धियों के विषय में साधनपाद के 44 वें सूत्र में स्पष्ट रूप से बता दिया गया है कि मन्त्र मय जप करने से मनुष्य इतनी बड़ी ताकत को प्राप्त कर सकता है। भगवान् पतंजलिदेव बतलाते है-

स्वाध्यायायादिष्टदेवता सम्प्रयोगः।

भगवान् व्यासदेवजी भाष्य करते हुए लिखते है:-

देव, ऋषयः, सिद्धाश्च, स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छति कार्यचास्य वर्तन्ते।

अर्थात् मनुष्य का स्वाध्याय बल बढ़ जाने के बाद ऋषि, देवता और सिद्ध लोग उसको

दर्शन दिया करते हैं और अपने मन की ताकत से उसके सब काम कर दिया करते हैं। यही स्वाध्याय पराकाष्ठा को प्राप्त हुए मनुष्य को समाधि तक पहुँचाने का कारण बन जाता है। जब मनुष्य मंत्र के बल से समाधि योग को प्राप्त होता है तो वह समाधि सिद्धियों का भोजन स्वयं बन जाता है जो व्यक्ति किसी भी मंत्र का अनवरत जप करता रहता है उसके मन में एक विशेष प्रकार की ताकत इष्टदेव की ताकत एवं सिद्धों की ताकत साधक को प्राप्त होती है। उसका परिणाम यह निकलता है जो व्यक्ति स्वाध्याय के बल से मंत्रों को सिद्ध कर लेते है वे लोग कभी भी किसी से आपत्ति के समय में जब उस मंत्र को स्मरण करते हैं तभी उसको पूर्ण रूपेण मनोबल प्राप्त होता है और उनका अनिष्ट बिल्कुल दूर हो जाया करता है। आम तौर पर हमारे शास्त्रों में मंत्रानुष्ठान करने की विधियां लिखी हैं। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार जो व्यक्ति मंत्रानुष्ठान करते हैं उनको अवश्य ही इष्टदेव का दर्शन होता है।

अनुष्ठान की साधारण विधि

अनुष्ठान करने की विधियों में हमारे आचार्य मंत्र का कुछ भाग यज्ञ के लिये, कुछ ब्राह्मण भोजन दान-दक्षिणा आदि के लिए उपयोग करते हैं बल्कि उसके अतिरिक्त जो व्यक्ति इस लम्बे-चौड़े झमेले में नहीं पड़ना चाहते उनको चाहिए जिस मंत्र का वे लोग जप करते हैं उस मंत्र में जितने अक्षर हुआ करते है और उनकी कृपा से उनको अपने मनोरथ प्राप्त होते हैं किन्तु बड़ी अनुष्ठान निष्काम भाव से किया हुआ मनुष्य को समाधि द्वार तक पहुँचा देता है। सामान्य क्लेशों के तन्हीकरण के लिए एवं समाधि की पुष्टि के लिए हुआ करता है। योग दर्शन में भगवान पतंजलिदेव ने-

तप स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रिया योगः कह करके क्रिया योग के तीन स्तम्भ ब. ताये हैं तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान और इन तीनों का फल निर्देश करते हुए यह सूत्र लिया है-

समाधि भावनार्थः क्लेशतनुकरणार्थश्च

अर्थात ये तप स्वाध्याय और प्रणिधान क्रिया योग के तीनों अंग समाधि की पुष्टि के लिए एवं क्लेशों के हलका बनाने के लिये है, अतः निष्काम भाव से किया हुआ स्वाध्याय भी समाधि का जनक है। मंत्रानुष्ठान की अन्य विधियों का आश्रय लेने से व्यक्ति विविध प्रकार की मंत्र शक्तियों को पा जाते है। सर्प विष के उतारने के मंत्र, बिच्छू के विष को उतारने के मंत्र मानस रोग निवारण करने के मंत्र आदि-आदि जितने मंत्र संसार में प्रचारित हैं, वे सब के सब मंत्रजासिद्धि के अंगभूत है। मंत्र बल से जो शक्ति मिले वह मंत्रजा सिद्धि कहलाती है।

तपोजा सिद्धियाँ

कुछ सिद्धियाँ तप के द्वारा मनुष्य को प्राप्त हुआ करती है। वे सिद्धियाँ तपोजा सिद्धियाँ कहलाती हैं। भगवान् पतंजलिदेव जी लिखते हैं-

कायेन्द्रियसिद्धिर शुद्धिक्षयात्तपसः॥

भगवान व्यासदेव भाष्य करते हुए लिखते हैं:-

निर्वर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलं तदावरणमलापगमात् कायसिद्धि: **–अणिमाद्या, तथेन्द्रिय सिद्धि:**–दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति।।

अर्थात् तप के द्वारा अशुद्धि के आवरण तथा मल के क्षय हो जाने पर मनुष्य को कायिक सिद्धि: अणिमादिक और कायिक सिद्धि, दूर–श्रवण और दूर–दर्शन आदि स्वभावत: प्राप्त हो जाया करती है। तप का अर्थ है– द्वन्द्व सहनम् तप:। अर्थात् सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि के जोड़े को सहन करना तप कहलाता है और योग में प्राणायाम से बढ़ करके अन्य किसी तप को कोई महत्व नहीं दिया गया है। तप के द्वारा मनुष्य को उत्तरोत्तर अशुद्धि के नाश होने से सिद्धियाँ आदि और एन्द्रिय सिद्धियाँ दूर–श्रवण, दूर–दर्शन आदि प्राप्त हुआ करती है। इसका कारण केवल मात्र इतना ही है कि तप से अशुद्धि का नाश होता है और अशुद्धि नाश होने से रज और तप का आवरण नष्ट हो जाता है। योगाचार्यों के संविधान में प्राणायाम से बढ़कर और किसी तप का महत्व नहीं है। मनु जी महाराज मनुस्मृति में बतलाते है कि जिस प्रकार सोना चांदी आदि धातुओं को पकाने से उनके मल जल जाते है उसी प्रकार से प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों के मल जल जाते हैं और इन्द्रियों के मल जल जाने से दूर–दर्शन, दूर–श्रवण आदि एन्द्रिय सिद्धि मनुष्य को स्वभावत: प्राप्त हो जाया करती है।

मनु जी महाराज के उपरोक्त श्लोक के द्वारा एवं भगवान पतंजलि देव के बतलाये हुए–

कायेन्द्रियसिद्धिर शुद्धक्षयातपस:

इस सूत्र के द्वारा इस निश्चित सिद्धान्त की पुष्टि की गई कि मनुष्य तप के बल से कायिक एवं इन्द्रियों की सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

प्राणायाम के द्वारा कायिक एवं एन्द्रिय सिद्धि वाले एक साधक का उदाहरण

हमारे आश्रम के एक अभ्यासी साधक ने एक एकान्त स्थान में रहकर प्राणायाम का अभ्यास शुरु किया। शनै: शनै: अभ्यास बढ़ाने के बाद वह 20 प्राणायाम प्रात: 20 प्राणायाम दुपहर, 20 प्राणायाम सायंकाल 20 प्राणायाम अर्ध रात्रि शास्त्र विधि के अनुसार अभ्यास करने लगा। शनै: शनै: वह प्राणायाम के अभ्यास की मात्रा को बढ़ाता गया। अभ्यास बढ़ जाने के बाद उसके समीपस्थ लोगों ने प्राणायाम के बल से होने वाली कायिक एवं एन्द्रिय सिद्धियों को समय–समय पर अनुभव किया। एक बार तो प्राणायाम के अभ्यास से कहीं पहाड़ी स्थान में बैठा हुआ था। प्राणायाम के बल से उसके हृदय में प्रकाशावर्ण क्षय हो चुका था। वृत्ति अन्तर जगत में लीन थी इतनी देर में उसके सामने पहाड़ी भ्रमण के लिए आया हुआ एक डॉक्टर पहुँचा। डाक्टर घूमता हुआ सामने से निकल गया वह डाक्टर अमृतसर का रहने वाला था। अचानक उस प्राणायाम के अभ्यासी योगी के दृष्टि उस डाक्टर पर पड़ी। डाक्टर की शक्ल को देखकर उसका मन उसके मकान की ओर गया। ज्योंही योगी के मन में उसके मकान का चिन्तन किंचित आरम्भ हुआ त्यों ही दूर–दर्शन एन्द्रिय सिद्धि से उसने देखा कि उसके तिमंजिले मकान से उसके दो बच्चे परस्पर लड़ते–झगड़ते नीचे गिर गये है। प्राणायाम अभ्यासी योगी ने अपने एक साधक की ओर संकेत करके उस भ्रमणार्थ आये हुए डाक्टर को अपने पास बुला लिया और पास आने पर उसने कहा क्यों क्या तुम डाक्टर हो? डाक्टर ने जवाब दिया हां महाराज मैं डाक्टर हूं। क्या तुम अमृतसर के

रहने वाले हो? डाक्टर ने कहा हाँ जी महाराज मैं अमृतसर का रहने वाला हूँ। डाक्टर के ऐसा कह देने के बाद उस योगाभ्यासी नवयुवक ने डाक्टर से कहा कि तुम्हारे दो बच्चे अभी लड़ते हुए तुम्हारे तिमंजिले मकान से नीचे गिर गये हैं। तुम्हारा छोटा भाई तुम्हें टेलीफोन करने के लिए घर से चल पड़ा है। तुम शीघ्र डाकखाने चले जाओ, तुम्हारा टेलीफोन आने वाला है। अपने भाई से बच्चे का समाचार सुनकर तुम अपने घर अमृतसर लौट जाना किन्तु तुम किसी बात की चिन्ता मत करो तुम्हारे बच्चों पर हमारी दृष्टि पड़ गई है उनका बाल बांका नहीं होगा। तुम जब घर पहुँचोगे तो वे सब प्रकार से प्रसन्न मिलेंगे। योगी ने दूरदर्शन के द्वारा उस बच्चे के कुशल समाचार बतला दिये और उस डाक्टर ने अपने घर जाकर देखा तो उस योगी की बतलाई हुई सब बातें यथार्थ निकली। तीन दिन के बाद डाक्टर ने पुनः योगी के दर्शन प्राप्त किये और घटना को यथार्थ बतलाया। इसी प्रकार से इस युवक के अभ्यास काल में उसके सत्संग में रहने वाले लोगों ने इसकी अन्तर्ध्यान क्रिया को देखा और कई इसी प्रकार की घटनायें घटित हुई।

समाधिजा सिद्धियाँ

इस लेख के ऊपर के भाग में जप औषधि–मन्त्र एवं तप से होने वाली सिद्धियों का वर्णन किया जा चुका है। पांचवी प्रकार की सिद्धियाँ समाधि से उपलब्ध होनेवाली होती हैं। हम अपने पिछले लेखों में समाधि की परिभाषा भली प्रकार समझा चुके है। भगवान् पतञ्जलिदेव ने समाधि की पतन रहित स्थिति को संयम कहा है। वस्तुतः संयम ही सिद्धियों का जनक है। संयम की परिभाषा भगवान् पतंजलिदेव ने **"त्रयमेकत्र संयमः"** कहकर प्रचारित की है त्रयमेकत्र संयमः का अर्थ है धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एक विषयक ही हों। अर्थात् जिस अवस्था पर धारणा का अभ्यास किया जावे। धारणा काल में मन उसी में लगा रहे और तदन्तर धारणा के द्वारा प्रवाहिक अभ्यास के बाद वह धारणा ही सदृश प्रवाह के रूप में बदल कर ध्यान के रूप में प्रस्फुटित हो जाय और इसी प्रकार दीर्घ काल नैरन्तर्य एवं आदरपूर्वक किये हुए अभ्यास के बल से वह ध्यान ही तदाकार रूप धारणा कर समाधि को प्राप्त हो जाय। जब साधक का अभ्यास इतना परिपक्व हो जाता है कि उसका मन धारणा काल में, ध्यान काल एवं समाधि काल में भी अनवरत एक विषयक ही बना रहता है। समाधि की इस प्रकार की स्थिति को संयम कहते हैं और ये संयम ही भिन्न–भिन्न भूमियों में लगाने पर समाधि का जनक हो जाया करता है। भगवान पतंजलिदेव ने संयम पर विजय प्राप्त कर लेने पर उसका क्या परिणाम रहता है यह स्पष्ट शब्दों में निर्देश किया है–

तज्जयात् प्रज्ञाऽऽलोकः

इसका अर्थ स्पष्ट करते हुये भगवान् व्यासदेव निम्नांकित पंक्ति में लिखा है –

तस्य संयमस्य जयात्समाधि प्रज्ञाया भवत्यालोकः यथा यथा संयमः स्थिरपदो भवति तथा–तथा समाधि प्रज्ञा विशारदी भवति।।

अर्थात संयम की परिपक्व स्थिति आ जाने पर साधक की समाधि प्रज्ञा बिल्कुल निर्मल हो जाती है। तभी उसका रूप ज्ञान एवं विज्ञान पर पार पा जाने वाला बन जाता है। प्रज्ञा लोक हो जाने के बाद ही भगवान् पतंजलिदेव ने –

तस्य भूमिषु विनियोगः।

यह सूत्र कह करके संयम को अन्यान्य भूमिकाओं में लगाने का निर्देश किया है। समाधि प्रज्ञा को प्राप्त हुआ–हुआ संयम जहां–जहां लगाया जायेगा उस वस्तु के ज्ञान को तत्काल अवश्य ही प्राप्त कर लेगा। इसी संयम के आधार पर योगदर्शन के विभूतिपाद की सारी विभूतियां आधारित हैं। संयम के बल पर मनुष्य किन–किन सिद्धियों को किस प्रकार से प्राप्त करता है इसका बहुत बड़ा उल्लेख योगदर्शन के विभूतिपाद में है। समाधिजा सिद्धियों का रूपक समझाने के लिये योगी संयमित मन के आधार पर जिन–जिन शक्तियों को जिस प्रकार से प्राप्त करते हैं, उसका थोड़ा सा संकेत हम निम्नलिखित पंक्तियों में कर देना उचित समझते हैं। भगवान् पतंजलिदेव ने योग–समाधि दो प्रकार की मानी है।

1. संप्रज्ञात 2. असंप्रज्ञात

संप्रज्ञात योग का अभ्यासी मनुष्य पहले सवितर्क समाधि का अवलम्ब लेता है।

चित्तस्यालम्बेने स्थूल आभोग:।

भगवान पतंजलिदेव के अनुसार चित्त द्वारा स्थूल विषय का अवलम्ब लेना वितर्कानुगत समाधि कहलाती है। इसके बाद सूक्ष्म का अवलम्ब विचारानुगत और उसके बाद सूक्ष्मतर लक्ष्य का अवलम्ब आनन्दानुगत एवं उससे भी सूक्ष्मतम विषय में चित्त को समाहित करना संप्रज्ञात योग को अस्मितानुगत समाधि कहलाती है। संप्रज्ञात योग का इन चार प्रकार की समाधियों में संयम करने वाला व्यक्ति प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझकर उन पर पूर्ण रूपेण अधिकार प्राप्त कर लेता है। इससे उसका नाम ज्ञान तृप्तात्मा हो जाए भगवान जगदात्मा श्री कृष्णचन्द्र जी योगी की परिभाषा श्री मद्‌भगवद्‌गीता के छठे अध्याय में निम्नांकित श्लोक में रूप से व्यक्त की है –

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रिय:।
युक्तः इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्म कॉंचन:।।

अर्थात् जो योगी प्रकृति के सब विधान को समझ कर उन पर पूर्ण रूपेण अधिकार प्राप्त कर लेता है, और इसी प्रकार प्रज्ञा के निर्मल हो जाने पर आत्मा का साक्षात्कार करके ज्ञान तृप्तात्मा एवं विषय रहित स्थिति के अन्दर पहुँच जाता है इस प्रकार के व्यक्ति को ही पूर्ण रूपेण सिद्धयुक्त योगी कहा जाता है। प्रकृति के विधान को समझ कर उन पर अधिकार प्राप्त करने वाले योगी समाधि प्रज्ञा के बल से दूर–दर्शन, दूर–स्पर्शन, अणिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशा, वसित्व एवं यत्र कायावसायुत्व आदि इन अष्ट सिद्धियाँ एवं अन्य सभी उप सिद्धियों को प्राप्त हो जाया करती है। जो योगी इसके निरन्तर अभ्यास करनेसे अपने पूरा–पूरा अधिकार प्राप्त कर चुका है उसके लिए उपनिषदें स्पष्ट रूप से कहती है कि व्यक्ति तीनों लोकों में स्वतंत्रता से विचरण करता है और कभी भी मौत के चपेड़े में नहीं पड़ता। क्योंकि उसने अपने आपको योग की साधना द्वारा मार लिया है। व्यक्ति हठ साधना के द्वारा अपने को मार लेते हैं वे अवश्य ही जन्म–मरण के चक्र से बच जाया करते है और वे लोग संयम के आधार पर सभी सिद्धियाँ समाधिजा सिद्धियाँ कहलाती है। जिन सिद्धियों का ऊपर के लेख में वर्णन कर दिया गया है वे सभी

प्रकार की शक्तियाँ योगी को समाधि के बल से अवश्य–अवश्य प्राप्त हो जाया करती है। इसलिए भगवान् पतंजलि देव ने जन्म औषधि मंत्र तपः समाधिजा सिद्धियः कह करके उपरोक्त पांच प्रकार से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का विषद् वर्णन किया है किन्तु उनमें से उत्तमोत्तम सिद्धियाँ समाधि के बल से जो समाधिजा सिद्धियों को प्राप्त करता है वही अभ्युदय एवं निःश्रेयस सिद्धि का भाजन हो जाय करता है, इसलिये पाठकों को एवं 'सिद्धयोग' के अन्य सभी अंकों के पढ़ने वाले जिज्ञासुओं को अपनी समाधि प्रज्ञा के बल को बढ़ाकर सभी शक्तियों को प्राप्त कर लेना चाहिये और मनुष्य जीवनको सफल बनाना चाहिये, क्योंकि ये मनुष्य जीवन इसी हेतु प्राप्त हुआ करता है।

OOO

नाम–परिवर्तन

आर. के. पुरम सैक्टर–4 स्थित अपने आश्रम का नाम पूर्व में श्री सिद्धगुफा योग मन्दिर था। अब नाम में थोड़ा परिवर्तन करके सम्प्रति '**श्री सिद्ध गुफा योग शिक्षण केन्द्र**' रखा गया है। भक्तों की सूचनार्थ प्रेषित है।

आश्रम का टेलीफोन न0 है 011–26160915

आमंत्रण

श्री योग साधन आश्रम ट्रस्ट (रजि.) ऋषिकेश का वार्षिकोत्सव ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी, नवमी, दशमी तदनुसार शनिवार, रविवार एवं सोमवार दिनांक 23, 24 एवं 25 जून 2007 को बड़ी धूमधाम से मनाया जाएगा। आचार्य श्री पूर्णचन्द्र शर्मा के अनुसार इस उत्सव में उच्चकोटि के विद्वानों द्वारा योग सिद्धान्तों पर सारगर्भित प्रवचनों के अतिरिक्त योग साधनों का प्रदर्शन एवं संगीतमयी श्री हरिनाम संकीर्तन के भक्तिमय कार्यक्रम भी आयोजित होंगे।

ट्रस्ट के अध्यक्ष श्री रंगीलाल अग्रवाल एवं मंत्री श्री विशनचन्द गर्ग ने सभी गुरुभाई बहिनों से बाल गोपालों और इष्ट मित्रों सहित उत्सव में भाग लेकर धर्मलाभ प्राप्त करने का अनुरोध किया है।

सम्पादकीय

सिद्धयोग का श्रेष्ठ मार्ग

आचार्य दासलाल शर्मा

ईश्वर और जीव का अंश–अंशी सम्बन्ध है। जीव जब तक ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर लेता तब तक अविद्या एवं उससे होने वाले नाना प्रकार के क्लेश व दुःख उसे दुःखी करते रहेंगे। जीव सदा प्रयत्नशील रहता है कि उसे शाश्वत सुख एवं अखण्ड शान्ति मिल जाये किन्तु माया से भ्रमित रहने के कारण उसे उचित मार्ग मिल नहीं पाता। माया के निरसन का उपाय समाधि ही है इसी से बुद्धि की पूर्ण शुद्धि हो पाती है और उसे विवेक ज्ञान हो जाता है। अधिकारी भेद से विवेकख्याति तक पहुँचने के कई मार्ग है जो साधक को एक ही लक्ष्य तक पहुँचाते है। भक्तियोग, हठयोग, राजयोग, लय योग आदि अनेकानेक शाखायें है जो योग की प्राप्ति कराने वाले है। पातञ्जल अष्टांग योग मे सभी का समावेश पाया जाता है। साधक अष्टांग योग के किसी भी अंग की साधना करके उसमें पूर्णता प्राप्त कर ले तो उसी से शनैः शनैः योग मे प्रवेश पाकर चर्मोत्कर्ष तक पहुँच जाता है। योग की महिमा सर्वविदित है। वेद, उपनिषद् सभी योग की महिमा गाते है। बिना योग साधना के संसार मे कोई भी महापुरुष नहीं बन सकता।

योग का अन्तरंग भाग धारणा, ध्यान एवं समाधि है। इन अंगो की साधना पूर्ण किये बिना कोई योगी नहीं बन सकता। योग मनुष्य को अमरता देता है। जीवन को शाश्वत बनाता है। हमारे पूर्वज–ऋषियों ने इस मार्ग का अवलम्बन करके ही अमरपद को पाया है। यही वह दर्शन है जो मनुष्य को ईश्वर से मिलाता है। इस 'अमृतविद्या' का अवलम्ब मनुष्य ने युगों–युगों से लिया है और लेता रहेगा। इसके बिना मनुष्य का जीवन कदापि उज्जवल नहीं बन सकता। योग का साहित्य पढ़ लेने से अथवा योग सिद्धान्तों की चर्चा कर लेने मात्र से कोई योगी नहीं बन जाता। कोई भी व्यक्ति एक दिन मे ही योगी नहीं बन जाता। साधक को धीरे–धीरे योगमय जीवन जीने की कला सीखनी पड़ती है। योगी का उठना बैठना, चलना, सोना, जागना, सांस लेना आदि सभी क्रियायें योगमय होती है। इन सब क्रियाओं का प्रभाव उसके विचार एवं चिन्तन शैली पर पड़ता है। योग परक जीवन जीने की शिक्षा प्राप्त करने के लिये साधक को सिद्ध पीठ मे गुरुदेव के सान्निध्य मे रहना होता है। वहाँ कुछ दिन के निरंतर अभ्यास से दैनिक क्रियायें एवं व्यवहार योगमय बन जाती है और साधक फिर उसे परिपक्वावस्था मे ले जाता है।

समाधि प्राप्त किये बिना कोई भी योग मे प्रवेश नहीं कर सकता। समाधि के अभ्यास से ही मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों का जागरण होता है। समाधि से ही मन और बुद्धि का मल छूटता है। बुद्धि के निर्मल होने का तात्पर्य है कि इसकी सूक्ष्म वस्तुओं को ग्रहण करने की क्षमता बढ़ जाती है। अध्यात्म–तत्वों का अनुभव एवं साक्षात्कार बुद्धि के निर्मल होने पर ही होता है। समाधि प्राप्ति के दो उपाय है। एक है साधक की स्वयं के पुरुषार्थ से जिसे साधन योग कहते है। दूसरा है पूर्ण गुरु की कृपा से जिसका नाम है 'सिद्धयोग'। इन दोनों ही साधनों से साधक योगी तो बन जाता है, किन्तु

आधारभूमि मे दोनो मे अन्तर रह जाता है। सिद्ध कृपा से प्राप्त समाधि वाले की वृत्ति एकाग्र हो जाती है। किन्तु क्लिष्ट वृत्तियाँ चित्त भूमि मे दबी रह जाती है। बिना साधना के अनायास शक्तियो के मिल जाने पर वह कठिन साधना के श्रम से अछूता रह जाता है। इसलिये ऐसे योगी के मूल स्वभाव मे परिवर्तन नही हो पाता। सिद्धि शक्ति सम्पन्न हो जाने पर भी क्रोध अहंकार द्वेषादि क्लेशों का बीज चित्त में बना ही रह जाता है। सिद्ध कृपा मिल जाने के बाद यदि योगी सिद्ध गुरु के थपेड़े खाये तो उसकी क्लिष्ट वृत्तियों का भी शमन होता चला जाता है। गुरुदेव उसे व्यवहार में यम-नियम का पालन कराते है और उसे तपा-तपा कर कुन्दन की भाँति बनाते है। वृत्ति सारूप्य मितरत्र: जितनी देर तक मन एकाग्र रहता है उतनी देर तक तो सात्विक वृत्ति के बने रहने के कारण, स्वभाव की वृत्तियाँ दबी रहती है, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार से अध्यापक के कक्षा मे उपस्थित रहने पर सभी छात्र शान्त रहा करते है। किन्तु अध्यापक के कक्षा से जाते ही उच्छृंखल विद्यार्थी मनमानी हरकतें करने लग जाते है। किन्तु जो स्वभाव से सौम्य एवं शान्त छात्र है वे अध्यापक के न रहने पर भी शान्ति का ही परिचय देते है। ऐसे ही कई जन्मों की साधना के परिणाम स्वरूप जिनका स्वभाव अति सरल एवं निर्मल बन जाता है ऐसे योगी संसार मे सदा, सभी का हित करने वाले होते हैं।

साधन योग से प्राप्त योग वाले योगियों के स्वभाव मे भी विभिन्नता रहती है। मनुष्य अभ्यासबल से मन की एकाग्रता को तो प्राप्त कर सकता है और परिणाम में शक्तियों का अर्जन भी कर सकता है किन्तु स्वभावगत वृत्तियाँ उस के लिये भी पूर्णता की ओर जाने मे व्यवधान रूप बन जाती है। हमारे प्राक्तन् संस्कार व्यवहार दशा में प्रबल रहते है। इसलिये मनुष्य तप से, मन्त्र से, औषधि से, ध्यान से शक्तियों को तो प्राप्त कर सकता है, किन्तु स्वभाव मे मूल परिवर्तन नही हो पाता। इसका कारण बताते हुये योगदर्शन मे एक सूत्र आया है- जिसका भाव यह है कि क्लिष्ट वृत्ति (पापवृत्ति) के अन्दर अक्लिष्टवृत्ति (पुण्य-वृत्ति) और अक्लिष्ट वृत्ति के अन्दर क्लिष्ट वृत्ति सश्लिष्ट रहा करते है। इसका सीधा अर्थ यह है कि पाप के अन्दर भी पुण्य बन जाता है और पुण्य करते हुये भी पाप बन जाया करता है।

हर मनुष्य के मन मे दो प्रकार की वृत्ति रहती है जिसे क्लिष्ट वृत्ति और अक्लिष्ट वृत्ति कहते है। साधक को समाधि के द्वारा दोनो ही वृत्तियो का निरोध करना होता है। मन की एकाग्रता प्राप्त कर लेने पर भी तथा सिद्धियो के उदय होने पर भी क्लिष्ट वृत्ति का पूर्णतया नाश नही हो पाता इसलिये व्यवहार दशा मे अथवा व्युत्थानदशा मे योगी को प्रभावित कर लेती है। प्रायः सामान्य लोग इस बात का निर्णय नही कर सकते कि सिद्धियो से युक्त व्यक्ति पूर्ण योगी है या नही। गुरुदेव भगवान अपने मुखारविन्द से कहा करते थे कि हिमालय मे हजारो वर्षों तक रहने वाले व वर्षों की समाधि लगाने वाले सिद्ध भी क्लिष्ट वृत्ति के आने पर योगच्युत हो जाया करते है। जब तक निर्बीज समाधि की परिपक्वावस्था नही आ जाती तब तक योगी को भी "चौरासी" का भय होता है। सांसारिक लोग थोड़े बहुत चमत्कार दिखा देने वाले व्यक्ति को भगवान मानने लगते है। चमत्कार तो तामसी सिद्धि वाले लोग भी दिखा दिया करते है। प्रेत-सिद्धि व इसी प्रकार की अन्य सिद्धियो से भी चमत्कार किये जाते हैं किन्तु इन सिद्धियों से मनुष्य का अधिक भला नही हो पाता।

नुकसान अवश्य हो जाता है। ऐसी सिद्धि वाले व्यक्ति का भी अन्त बुरा होता है और 'भूतानि यान्ति भूतेज्या' के सिद्धान्तानुसार देहपात के पश्चात प्रेत–योनि में चले जाते हैं। तामसी सिद्धि वाले लोगों को भी सामान्य लोग योगी समझ बैठते हैं और श्रद्धा से तन, मन, धन अर्पित करके अन्ततः शोषित ही होते हैं। ऐसे लोग गलत लोगों के सम्पर्क में आकर आत्मोत्थान से वंचित रह जाते हैं। योग मार्ग से जो सिद्धियाँ मिलती हैं उसके साथ–साथ योगी का ज्ञान–विज्ञान भी उतना ही बढ़ जाता है। वस्तुतः योग मार्ग की सिद्धियाँ इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की निर्मलता के सूचक होते हैं। योगी की ब्राह्मी–दृष्टि होने के कारण उसकी कभी भी दुर्गति नहीं होती। **'न हि कश्चिद् कल्याणकृत दुर्गति तात् गच्छति'**। योग मार्ग की सिद्धियाँ एवं आत्मज्ञान दोनों सहचारी–रूप में उदित हुआ करती है। ऐसा नहीं होता कि सिद्धियाँ हों और ज्ञान का विकास न हो अथवा ज्ञान हो और सिद्धियाँ न हो। बहुत से आधुनिक वेदान्तवादी कहा करते हैं सिद्धियाँ तो हेय हैं इनकी आत्मज्ञान में कोई भूमिका ही नहीं है। किन्तु वेदान्तमत के प्रमुख आचार्य आदि गुरु शंकराचार्य के जीवन में आत्मज्ञान के साथ ही सभी यौगिक सिद्धियाँ थी जिनका प्रमाण अनेक स्थलों पर मिलता है। सिद्धियों की भी अलग–अलग श्रेणियाँ हैं। आत्मसाक्षात्कार के निकट–निकट में उदित होने वाली सिद्धियाँ महासिद्धि है। सिद्धियाँ सभी प्रकृति पर्यन्त तथा प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली होती है। सम्प्रज्ञात योग की पराकाष्ठा–अस्मितानुगत समाधि तक योगी का चित्त सबीज ही रहता है इसलिये अभी योगी को पूर्णत्व प्राप्त नहीं हुआ होता है। इसके अनन्तर निर्बीज समाधि में दृढ़ स्थिति बनने पर ही योगी का चित्त निर्बीजावस्था को प्राप्त होता है। प्रकृति एवं आत्मा का संयोग सम्बन्ध टूट जाता है और योगी अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इसे ही योग युक्तात्मा, ब्रह्मयोगयुक्तात्मा आदि–आदि नामों से श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है।

योग आत्मविकास की सतत् प्रक्रिया का नाम है। एक ही जीवन में पूर्णत्व प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इसलिये भगवान ने गीता में 'अनेक जन्म संसिद्ध स्ततो याति परां गतिम्' की बात कही है। जन्म–जन्मान्तर की साधना एवं उसके संस्कार चित्त में संचित रहकर अगले जन्म में फिर प्रभावी होकर साधक को साधना में लगाते हैं। **'लभते च पौर्वदेहिकम्'** – पूर्व देह में अर्जित योगमहत्व संस्कार अपना प्रभाव डालकर जन्मान्तर में साधना में प्रवृत कराते हैं। सर्वसमर्थ गुरुदेव अपने बालक के हर जन्म में रक्षक बनकर निरन्तर उत्थान की ओर ले जाते हैं और अन्त में पूर्णता प्रदान कर देते हैं। यही सिद्धयोग का श्रेष्ठ मार्ग है।

यदि आत्मा को जान लिया तो सब कुछ जान लिया। इसके विपरीत आत्मा को तो जाना नहीं; पर अन्य सबकुछ जान लिया। इससे कोई लाभ नहीं। अतः आत्म–साक्षात्कार ही मनुष्य का मुख्य एवं एकमात्र कर्तव्य है। शुद्ध चैतन्य ही आत्मा है। आत्मा की अनुभूति के लिए केवल शान्त होना है।

अष्टांगयोग–साधना

डॉ. ऋषिराम शर्मा, लखनऊ

परमात्मा के स्वरूप को जानने के लिए तथा जीवभाव को त्यागकर परमात्मभाव में प्रवेश करने के लिए महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टांगयोग की साधना सर्वोपरि साधन है। सिद्ध–योग तथा भक्तियोग पूर्वसंस्कारों की स्थिति तथा क्रमशः सद्गुरुकृपा तथा ईश्वर कृपा पर आधारित है और वह अज्ञात परिस्थिति है। अष्टांगयोग पूर्णरूपेण वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक पद्धति है। इसमें सर्वप्रथम माया यानि प्रकृति के विकारों को समझना है, फिर उनको नष्ट करने की प्रक्रिया है तत्पश्चात् आध्यात्मिक शुद्धि के लिए समाधि के माध्यम से प्रकृति तथा पुरुष और उनके संयोग को पृथक कर परमात्मस्वरूप में प्रवेश करना है। इस मार्ग में प्रकृति के ऐश्वर्य तथा रहस्यों का भी योगी को ज्ञान हो जाता है। योगदर्शन में कहा है कि

"अष्टागयोगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिः आविवेकख्यातेः"

अर्थात् अष्टांगयोग का सम्यकरूपेण पूर्ण निष्ठा के साथ अनुष्ठान करने से चित्त की पंचक्लेशादि से उत्पन्न हुई अशुद्धि का नाश हो जाता है। जब चित्त पूर्णरूपेण निर्मल हो जाता है तब उसमें ज्ञान का प्रकाश प्रकट होता है और वह तब तक बढ़ता चला जाता है, जब तक आत्मस्वरूप को प्रकट करने वाली विवेकख्याति प्राप्त नहीं हो जाती। यहाँ तीन विषयों पर विचार करना आवश्यक है। प्रथम तो अशुद्धि को समझना है जिसके क्षय होने पर ज्ञान का प्रकाश उदय होता है और विवेक–ख्याति यानि अपने परमात्मस्वरूप की प्राप्ति होने तक यह आत्मज्योति अपने माया के अवरोधों को पार कर देदीप्यमान होती चली जाती है। दूसरा विचार है कि यह अष्टांग–योग है क्या और इसकी साधना कैसे की जाती है? तीसरा विषय है कि **"तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा"** अर्थात् ज्ञानदीप्ति की यह सात पर्तें क्या है और इन्हें कैसे पाया जाता है इसका प्रमाण हमारे उपनिषद है–

"ते ध्यानयोगानुगताः अपश्यत् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्"

(श्वेता. 1/3)

अर्थात् जब ध्यानयोगियों का चित्त समाधिपरिणाम तथा निरोधपरिणामों के परिणामस्वरूप प्रज्ञा की विभिन्न भूमिकाओं से गुजरता है तब उसे परमात्मा की दिव्य तथा व्यापक शक्तियों का अपरोक्ष अनुभव होता है। इस योग की सबसे श्रेष्ठ विशेषता यह है कि इसके द्वारा प्रकृति तथा पुरुष दोनों के ऐश्वर्य का ज्ञान हो जाता है।

सर्वप्रथम हम उस अशुद्धि को जानना चाहेंगे जिसके नाश के बिना आध्यात्मिक सिद्धि सम्भव ही नहीं। यह अशुद्धि है पंच क्लेश और उनसे उत्पन्न होने वाली पंच वृत्तियाँ तथा कर्माशय। यह पंच क्लेश हैं अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। अविद्या का अर्थ है कि सत्यता के

विपरीत ज्ञान की अनुभूति तथा धारणा। उदाहरण के रूप में जैसे संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील तथा अनित्य यानि नाशवान है, फिर भी उनके नाश होने पर हम दु:खी होते हैं, क्योंकि उनमें हमारी धारणा नित्य की थी। यदि किसी की सम्पत्ति नष्ट हो गयी या किसी अपने की मृत्यु हो गयी तो हम दु:खी हो जाते हैं। सृष्टि की प्रत्येक योनि का शरीर अथवा कोई भी पदार्थ पंचभूत तथा गुणों के विकारों से बनता है अत: अशुद्ध है, किन्तु उनमें हमारी धारणा शुद्ध की ही रहती है तभी तो हम उनसे प्यार करते हैं, उनमें आसक्त रहते हैं। यही है अशुद्धि में शुद्धि देखना। दु:ख में भी सुख की धारणा जैसे इन्द्रियों के विषय-भोग दु:खों को ही जन्म देते हैं, क्योंकि उनके परिणाम विषरूप है। भगवान श्रीकृष्ण बताते हैं कि

विषयेन्द्रियसंयोगात् यत्तदग्रे अमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।

अर्थात विषय तथा इन्द्रियों के संयोग से जो भोगसुख प्रतीत होता है, उसका परिणाम विष के समान दु:खदायी होता है। महर्षि पतजलि कहते हैं कि

परिणाम तापसंस्कारदु:खैः गुणवृतिविरोधाच्च दु:खमेव सर्व विवेकिन:

अर्थात परिणाम, ताप, संस्कार तथा गुणों तथा वृत्तियों में विरोध होने के कारण संसार का प्रत्येक सुख वास्तव में दु:ख रूप है। इसी प्रकार पंचभौतिक शरीरों को आत्मा समझ लेना, यह सब अविद्या-जनित क्लेश है।

दूसरा क्लेश है अस्मिता। परमात्मस्वरूप दृष्टा तथा प्रकृति की दर्शन-शक्तियों की एकात्मता को अस्मिता कहते हैं। शरीर में आत्मतत्व का ज्ञानत्व प्रकृति की दर्शनशक्तियाँ बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों में प्रतीत होता है कि जैसे समस्त अनुभूतियाँ तथा ज्ञान हमें बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों से प्राप्त हो रहा है। इसी को आत्मा का वृत्तिसारूप्य भी कहा जाता है।

तीसरा क्लेश है राग। जिन वस्तुओं से हमें सुख प्राप्त होने की भ्रान्ति हो रही है उनके प्रति हमारी आसक्ति हो जाती है, इसी को राग कहते हैं।

चौथा क्लेश है द्वेष। जिन वस्तुओं से हमें दु:ख प्राप्त होने की भ्रान्ति हो रही है, उनके प्रति हमारे मन में द्वेष उत्पन्न हो जाता है।

पाँचवा क्लेश है अभिनिवेश। जब हमें इस संसार और संसार की वस्तुओं से तथा अपने शरीर में आसक्ति हो जाती है तब हम उन्हें त्यागना नहीं चाहते। इसीलिए हमें मृत्यु के रूप में उन्हें त्यागकर जाने का भय भयभीत करता रहता है। इसी को 'अभिनिवेश' कहते हैं।

संसार का व्यवहार इन पंच क्लेशों के प्रभाव में चलता है। अत: समस्त कर्मों का मूल भी यही पंचक्लेश है जो हमारे कर्माशय को बनाते हैं। कर्माशय के परिपक्व कर्म प्रारब्ध बनाते हैं। प्रारब्ध से योनियों की प्राप्ति, उनमें भोगने वाले सुख-दु:ख तथा शरीरों की आयु का निर्धारण होता है सुख किसी पुण्य कर्म का फल होता है तथा दु:ख किसी पाप कर्म का फल होता है। पुण्य तथा पाप का निर्णय क्रमश: धर्मानुसार तथा धर्म के विरुद्ध कर्म से होता है। मन में उत्पन्न होने वाले भाव तथा बुद्धि में उत्पन्न विचार चित्तवृत्तियाँ हैं। अत: पंच क्लेश तथा उनसे उत्पन्न कर्माशय तथा

चित्तवृत्तियाँ ही ''अशुद्धि'' है। यही परमात्मस्वरूप पर जीवात्मभाव का आवरण है। हमारे उपनिषदों का भी यही संकेत है कि

अनेन जीवन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि (छान्दो 6/3/2)

''शरीर: आत्मा प्राज्ञेन आत्मना अन्वारूढ़:'' (बृह. 4/3/35)

अर्थात परमात्मा ने ही शरीरों में जीवात्मा के रूप में प्रवेश करके नाम रूप की सृष्टि को प्रकाशित किया है। अत: शरीरधारी आत्मा परमात्मस्वरूप में ही गुप्त है। इसका कारण अविद्या है। अत: अविद्या की अशुद्धि का क्षय होने पर परमात्मा के साक्षात्कार होते हैं। अशुद्धि का क्षय करने के लिए ही महर्षि पतंजलि ने अष्टांगयोग का दर्शन दिया है कि

''यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टांगानि''

अर्थात यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि यह अष्टांगयोग के आठ अंग हैं। इन अंगों को ठीक से समझने का प्रयास करेंगे। इस सूत्र के प्रथम पाँच अंग बहिरंग साधन हैं जिनके अनुष्ठान से चित्त में माया के गुणों के विकार काम, क्रोध, लोभ, राग, वासना, द्वेष, मान-अपमान, अहंकार तथा प्रतिष्ठा की चित्तवृत्तियाँ क्षीण होती जाती हैं जिससे कि

''क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदंजता समापत्ति:''

अर्थात जिस तरह शुद्ध पारदर्शी मणि जिस माध्यम पर रखी जाती है उस माध्यम के रंग तथा चित्र उसमें स्पष्ट दिखाई देने लगते हैं, इसी प्रकार वृत्तियों के क्षीण हो जाने पर शुद्ध हुआ चित्त भी शुद्ध पारदर्शी मणि की तरह एकाग्रावस्था के विषय के सम्पूर्ण रहस्यों को प्रकट कर देता है। अत: जब आत्मभाव ही चित्त का विषय होता है तथा अन्य सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब चित्त आत्मज्योति से ही प्रकाशित रहता है। आवश्यकता है केवल उस अशुद्धि को साफ करने की जिसके कारण आत्मज्योति अशुद्धि के घने बादलों से ढकी हुई है।

इस अशुद्धि को साफ करने के लिए पहले हम ''यम'' का विवेचन करेंगे कि

''अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यम:''

अर्थात यम पाँच हैं। वह है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। अहिंसा का अर्थ है कि किसी भी प्राणी के शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट या वेदना का निमित्त न बनना। अनजाने में बिना किसी प्रयास के अनायास ऐसा होता है तो उसे अहिंसा नहीं कहा जाता, क्योंकि कर्म वह माना जाता है जिसके पीछे कोई भावना या अहंकार निमित्त होता है। इसका प्रमाण जगदात्मा कृष्ण की वाणी है कि

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
स: हत्वापि इमान् लोकान् न हन्ति न हन्यते।।

अर्थात जो अहंकार रहित है और जिसकी बुद्धिगत आसक्ति की भावना कर्म के पीछे नहीं है ऐसा व्यक्ति न तो किसी की हत्या करता है और न किसी भी रूप में हत्या का भागीदार होता है। ऐसे व्यक्ति की सन्निधि में क्रूर प्राणी भी परस्पर वैरत्याग कर देते हैं, ऐसा योगदर्शन में कहा है

''अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:''।

दूसरा यम है "सत्य"। सत्य का अर्थ है कि जिस घटना को बुद्धि तथा अन्तरात्मा सत्य मानती है और बिना किसी छल-कपट के ठीक वैसे ही उसका वर्णन किया जाय तो उसे सत्य का पालन कहा जाता है। जब कोई व्यक्ति स्वार्थबुद्धि से किसी घटना का वर्णन करता है तो उसमें अनुकूलता की दृष्टि से बदलाव यानि परिवर्तन आ जाता है, इसे असत्य की संज्ञा दी गयी है। सत्यवादी व्यक्ति निःस्वार्थी तथा त्यागी होता है। योग नग्न सत्य को जानने की विद्या है, अतः जिसके आचार तथा व्यवहार में ही सत्य नहीं है, वह व्यक्ति योगी कैसे बन सकता है।

तीसरा यम है अस्तेय। अस्तेय का अर्थ है कि किसी दूसरे के द्वारा अर्जित धन, सम्पत्ति, विद्या, मान-प्रतिष्ठा का अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए लाभ उठाना अथवा उसे अपना बनाना, चुराना या छीनना। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कोई भी षड्यन्त्र या छल-कपट का आश्रय लेना भी अस्तेय है।

चौथा यम ब्रह्मचर्य है जिसका अर्थ है काम वासना का पूर्णरूपेण त्याग। ग्रहस्थ आश्रम में धर्म के अनुसार पति-पत्नी का सम्बंध कामवासना नहीं है, क्योंकि भगवान श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि "धर्माविरुद्धो हि भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ" अर्थात धर्म के अनुसार सन्तानोत्पत्ति के निमित्त काम परमात्मा की इच्छामात्र होने से ब्रह्मचर्यव्रत का उल्लंघन नहीं होता। जब शारीरिक अथवा मानसिक सुख के लिए शरीर से अथवा मन से ब्रह्मचर्य का उल्लंघन होता है तब उसे कामवासना कहा जाता है। अतःएव जब मन से, वाणी से तथा शरीर से कामवासना का चिन्तन अथवा भोग किया जाता है, वहाँ ब्रह्मचर्यव्रत का उल्लंघन होता है।

पाँचवां यम है अपरिग्रह। जब अपनी अथवा अपनों की सुख-सुविधा के लिए वह सामग्रियाँ एकत्र की जाती है जिनकी सुरक्षा की चिन्ता मनोवृति का अंग होती है, उसे परिग्रह कहते हैं।

किसी भी वस्तु की या उसकी सुरक्षा की चिन्ता उसमें आसक्ति का परिणाम है और आसक्ति चित्त की सबसे बड़ी अशुद्धि है। अतः परिग्रह की मनोवृति का पूर्णरूपेण परित्याग ही "अपरिग्रह" है। संक्षेप में यह समझ लीजिए कि यमों के विपरीत भावों से ही चित्त में अशुद्धियों का आवरण गहन होता जाता है। अतः इसकी शुद्धि के लिए उपर्युक्त यमों का पालन करना चाहिए। यह दूसरी बात है कि कुछ साधक पूर्व जन्मों में इस साधना को कर चुके है और उनकी यह कमाई इस जन्म में भी काम आ रही है, क्योंकि परमात्मा श्रीकृष्ण का वचन है कि

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।

अर्थात ईश्वरकृपा से पूर्वजन्मों का बुद्धियोग इस जन्म में स्वतः प्रकट हो जाता है जिससे कि साधक पुनः अपनी योगसिद्धि के लिए प्रयास करता है।

●●●

महाभारत में योग विद्या

योगमार्ग के विघ्न व विघ्न–विनाशक उपाय

डॉ. राजकुमारी त्रिखा
रीडर मैत्रेयी कॉलेज,
नई दिल्ली

प्रत्येक कार्य को सम्पन्न करने में अनेक विघ्न प्रायः आते हैं। योगमार्ग की यात्रा भी अनेक विघ्न बाधाओं से परिपूर्ण है। इसमें से कुछ विघ्न बाधाएँ, साधक की शारीरिक व मानसिक स्थिति से उत्पन्न होती हैं, तो देवताओं की ओर से भी कुछ विघ्न डाले जाते हैं।

प्रस्तुत अध्याय में हम निम्न विषयों पर प्रकाश डालेंगे–

क. योगमार्ग की दुर्गमता

ख. योगमार्ग के विघ्न

ग. विघ्नविनाशक उपाय

क:–योगमार्ग की दुर्गमता

योगमार्ग अत्यन्त पवित्र एवं साधक को शारीरिक मानसिक व आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर पहुँचाने वाली साधना पद्धति है। दृढ़ अभ्यास के द्वारा योगी अपने सञ्चित कर्मों को क्षीण करके भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। इस योगमार्ग में साधक की प्रवृत्ति व गति तभी होती है, जब साधक के जन्मजन्मान्तरों के अशुभ संस्कार समाप्तप्राय हों, व पुण्यकर्मों का फल उदित हो। तब भी हजारों व लाखों पुण्यवानों में से कोई एक ही व्यक्ति इस मार्ग पर चलता है। इस पर चलना तलवार की धार के ऊपर चलने के समान है। लक्ष्य से जरा भी भटके, तो योगी अपनी योगस्थिति से भ्रष्ट हो जाता है। सर्वप्रथम तो संसार के मायाजाल से नाता तोड़ कर, इस मार्ग पर चलना ही कठिन है। यदि साधक चल भी पड़े, तो भी अनेक विघ्न बाधाओं का सामना करना पड़ता है। कभी साधक का शरीर अस्वस्थ हो जाता है तो कभी मन में साधना की ओर से प्रमाद हो जाता है। सब कुछ ठीक भी चले तो साधनामार्ग में प्रगति होने पर देवताओं की ओर से अनेक प्रलोभन व विघ्न प्राप्त होते हैं। सिद्धगुरु के आशीर्वादात्मक संकल्प से किसी प्रकार उन विघ्नों से रक्षा हो भी गई, तो योगसिद्धियों की उपलब्धि से विवेक नष्ट हो जाता है; बुद्धि पर लोकैषणा, का परदा पड़ जाता है व साधनाविरत होकर योगी योग सिद्धियों को ही सर्वस्व मान कर, उन्हीं में धुस कर योगभ्रष्ट हो जाता है। इसीलिए कठोपनिषद् में कहा गया है– यह मार्ग छुरे की धार के समान तीक्ष्ण व दुस्तर है।

महाभारत में भी योगमार्ग को अत्यन्त दुर्गम माना गया है। इस योगमार्ग की भीषण जंगल से तुलना करते हुए महर्षि वेदव्यास भीष्ममुख से कहते हैं– हे भरतश्रेष्ठ! विद्वान् ब्राह्मणों ने योगमार्ग को दुर्गम माना है। कोई विरला ही इस मार्ग को कुशलतापूर्वक पार कर सकता है। किसी ऐसे दुर्गम जंगल की कल्पना कीजिए, जो अनेक सर्पों व बिच्छुओं आदि से आकीर्ण है; अनेक गड्ढे व कण्टक हों, चारों ओर दूर–दूर तक फैला सुनसान जंगल ही जंगल हो, न पीने को पानी हो और न खाने को भोजन। जहाँ छायादार वृक्ष भी दावानल से जलकर भस्म हो गये हों। अनेक चोर डाकू

लूटने को तैयार हों। ऐसे दुर्गम व विशालजंगल को पार करना अत्यन्त कठिन है। कोई-कोई विरला नवयुवक ही ऐसे भयंकर जंगल को कुशलतापूर्वक पार कर सकता है। इसी प्रकार इस दुर्गम योग का आश्रय लेने वाला कोई विरला ही द्विज, इस मार्ग पर कुशलता पूर्वक चल पाता है, क्योंकि इसमें अनेक दोष(कठिनाईयाँ) हैं। चाहे कोई अभ्यास के बल पर, छुरे की तीक्ष्ण धार पर सुखपूर्वक खड़ा रह सके, परन्तु उन मनुष्यों का योगधारणाओं में स्थिर रहना अत्यन्त कठिन है, जिनका चित्त शुद्ध नहीं है। योगधारणा सिद्ध होने पर ही योगमार्ग में प्रगति होती है। यदि ये सिद्ध न हों, तो वे शुभगति प्राप्त नहीं करवा सकती, जैसे समुद्र में नाविक–रहित नौका, कभी पार नहीं लगा सकती।

अतः योग के साधक को आन्तरिक व बाह्य विघ्नों से सावधान रहने के साथ–साथ निरन्तर सजग व उद्यमशील रहकर साधना बढ़ानी चाहिए। उन्हें योग के दोषों (विघ्नों) का परिहार व सहायक साधनों की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए, जिससे साधना में तीव्र गति से प्रगति हो।

ख:– योगमार्ग के विघ्न

भगवान् पतञ्जलि ने योगाभ्यास में विघ्नकारी पाँच क्लेशों, नौ अन्तरायों चित्तविक्षेपों उनसे उत्पन्न होने वाले पाँच अन्य विघ्नों का वर्णन किया है। पतञ्जलि ने अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों का वर्णन किया है, जो चित्त में अस्थिरता उत्पन्न करते हैं। अनित्य जगत् आदि दृश्यमान पदार्थों को नित्य समझना अविद्या है। इसी प्रकार अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख, तथा अनात्म को आत्मा समझना आदि व्यवहार अविद्या है। पुरुष व बुद्धि को मोहवश एक ही समझ कर बुद्धि को ही आत्मा समझना अस्मिता है। सुख भोगने के पश्चात्, उसको पुनः प्राप्त करने की अभिलाषा राग है, तथा दुःख के कारणभूत पुरुषों वस्तुओं आदि के प्रति क्रोध, द्वेष है। मृत्यु का भय अभिनिवेश है, जो कि जन्मजन्मान्तरों में भोगे गये मृत्यु के दुःख के कारण उत्पन्न होता है तथा विद्वानों के भी मन में विद्यमान रहता है।

ये पंचक्लेश चित्त को चंचल बनाते हैं, तथा योगमार्ग की प्रगति में बाधा डालते हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने योग के नौ अन्तरायों का भी वर्णन किया है। व्याधि, स्त्यान संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति भ्रान्तिदर्शन, अनुपलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व। ये नौ चित्त के विक्षेप माने गये हैं। व्याधि का अर्थ है रोग। शरीर रोगी होने पर ध्यानाभ्यास/योगाभ्यास करना कठिन है। स्त्यान का अर्थ है–चित्त में कार्यक्षमता का अभाव। अर्थात् निरोग होने पर भी कोई कार्य करने की इच्छा न रहना ही स्त्यान है। इससे भी समाधि के अभ्यास में विघ्न पड़ता है। संशय का तात्पर्य है उभयस्पर्शी ज्ञान, अर्थात् अमुक इस प्रकार का है अथवा उस प्रकार का है। समाधि की ओर अग्रसर कराने वाले साधनों के प्रति उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति न होना प्रमाद है। कफाधिक्य से शरीर व भारीपन के कारण तथा तमोगुण की अधिकता से चित्त के भारीपन के कारण साधनाभ्यास न करना आलस्य है। वैराग्य का अभाव अविरति है। किसी अन्य वस्तु को, कोई अन्य ही वस्तु समझ लेना भ्रान्तिदर्शन है। मधुमती, मधुप्रतीका विशोका तथा संस्कारशेष इन समाधि भूमियों का लाभ न होना, अलब्धभूमिकत्व नामक अन्तराय है, जिससे साधक उत्साहहीन होकर योगाभ्यास करना छोड़ देता है। अन्तिम अन्तराय है, इन भूमियों को प्राप्त करके भी उसमें निरन्तर स्थिरतापूर्वक विद्यमान न रहना अर्थात् अनवस्थितत्व। व्यासभाष्य में इन नौ अन्तरायों को योगमल तथा योग में

विघ्न माना गया है।

इन अन्तरायों के साथ ही पाँच अन्य योग बाधक तत्व दु:ख, दौर्मनस्य, शरीर का कम्पन, श्वास व प्रश्वास क्रिया–उपस्थित होते हैं। समाहित चित्त योगी को ये पाँचों पीड़ित नहीं करते।

महाभारत में भी योग के विघ्नों का विस्तृत वर्णन किया गया है। परन्तु महाभारत वर्णित इन विघ्नों में से कुछ विघ्न पतञ्जलि वर्णित है, तो कुछ महाभारतकार ने किन्हीं अन्य शास्त्रों से ग्रहण किये हैं। क्लेश, विक्षेप, अथवा अन्तराय नाम से उल्लिखित योगविघ्नों का उल्लेख भिन्न नाम से किया गया है। महाभारत में कामभावना को योगाभ्यास का प्रबल शत्रु कहा गया है। कामीपुरुष को योगमार्ग में सफलता नहीं मिलती। अत: काम व योग का संयोग विष व अमृत के संयोग के समान कहा गया है। अत: एव कामभाव के उद्दीपक युवावस्था, सुकुमारता, सौन्दर्य, तथा सुगठित शरीर को योग का विरोधी माना गया है राजा जनक की परीक्षा लेने के उद्देश्य से जब योगानुष्ठात्री सुलभा ने योग बल से राजा जनक के शरीर में प्रवेश किया, तो राजा उसकी योगशक्ति, उसका रूप, युवावस्था व सुकुमारता को देखकर चकित रह गये, क्योंकि लौकिक दृष्टि से स्पृहणीय ये सभी गुण योग के विरोधी हैं।

चित्त की मलिनता, समाधि प्राप्ति में सर्वाधिक बाधक है, क्योंकि मलिन चित्त की एकाग्र स्थिति बनना अति दुष्कर है। अत: सर्वप्रथम तो चित्त शुद्धि करनी चाहिये। चित्तशुद्धि हेतु, चित्त के विकार काम, क्रोध, लोभ भय व स्वप्न का परिहार करना चाहिये, क्योंकि ये योग के पांच दोष हैं। भगवान् वेदव्यास शुकदेव जी को योग का उपदेश देते हुए इन योगदोषों को दूर करने के उपाय भी बताते हैं। वह कहते हैं– कामविकार को संकल्पत्याग द्वारा जीतो, क्रोध को शान्ति द्वारा, तथा सत्वगुण के अधिकाधिक अर्जन से निद्रा को जीता जा सकता है। धैर्यपूर्वक (भोजनादि की चिन्ता त्याग कर) शिश्न व उदर की रक्षा करनी चाहिए अर्थात् लोभ को जीतकर ईमानदारीपूर्वक उपार्जित धन से भोजन खाये ताकि उदरपूर्ति हो तथा शुद्ध अन्न से उत्पन्न शुद्ध वीर्य की रक्षा करो (अन्यस्त्री संगाभाव द्वारा)। नेत्रों की सहायता से हाथों व पैरों की रक्षा करो, मन के द्वारा नेत्रों व कानों की, तथा कर्म के द्वारा मन व वाणी की रक्षा करनी चाहिए, अर्थात् इनको शुद्ध बनाना चाहिये। सावधानी के द्वारा भय तथा विद्वान् पुरुषों के सेवन द्वारा दम्भ का त्याग करना चाहिये। इस प्रकार सदैव आलस्य त्याग कर इन योगसम्बन्धी दोषों को जीतने का प्रयत्न करना चाहिये।

योगी को अपने भोजन व शयन के विषय में पूर्ण सतर्क रहना चाहिये। भोजन शुद्ध, सादा व सात्विक होना चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है– न तो एकदम निराहार रहना चाहिये, न ही भूख से अधिक भोजन ग्रहण करना चाहिये (अन्यथा स्वास्थ्य बिगड़ जायेगा व साधना में विघ्न पड़ेगा)। इसी प्रकार योगी को न तो अधिक देर तक सोना चाहिए और न ही अधिक देर तक जागना चाहिये। इस प्रकार उचित आहार विहार व निद्रा लेने वाले साधक की ही योगसाधना दु:खविनाशक होती है।

एक अन्य प्रसंग में कहा गया है कि योगसाधना में किंचित् प्रगति के उपरान्त व योगसिद्धियों की प्राप्ति के पूर्व प्रमोह, भ्रम व आवर्त विघ्न प्राप्त होते हैं। प्रमोह का अर्थ है मन की आकस्मिक अकर्मण्यता, जिसे पतञ्जलि ने स्त्यान नाम से अभिहित किया है। भ्रम का अर्थ है भ्रान्तिदर्शन

(पतञ्जलिसम्मत भ्रान्तिदर्शन) तथा आवर्त का अर्थ है उभयस्पर्शी कषाय, जिसे पतञ्जलि ने संशय कहा है।

साधना के प्रारम्भिक काल में एवं किंचित् प्रगति के पश्चात् प्राप्त होने वाले इन विघ्नों के अतिरिक्त, योग के पाँच विघ्न और भी कहे गये हैं। ये हैं पूर्ववर्णित काम, क्रोध, लोभ, भय व स्वप्न तथा पाँच अन्य दोष स्नेह, अतिभोजन, वैचित्त्य (मानसिक विकलता) व्याधि व आलस्य-इन दोषों से साधना में अवरोध होता है। ये विघ्न देवताओं की ओर से उपस्थित होते हैं, अर्थात् इन्द्रादि देवता योगसाधक के मार्ग में इन विघ्नों को उपस्थित करते हैं। क्योंकि जब भी कोई योगी योगसाधना में अग्रसर होता है, तो देवताओं को यह सहन नहीं होता कि कोई भी व्यक्ति उनसे अधिक शक्तिशाली व अमर हो जाये। योगी अचिन्त्य शक्तिसिद्धिसम्पन्न हो जाता है, अतः देवता उसकी योगसाधना में अवरोध करते हैं। अनुगीतापर्व में जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं– "**क्रियावान् मनुष्यों से देवलोक भरा पड़ा है। देवताओं को यह अभीष्ट नहीं है कि मनुष्य अमर हो जाये।**"

पातञ्जल योगसूत्रों में देव प्रेरित विघ्नों का उल्लेख किया गया है। दिव्य भोग भोगने के लिये देवताओं द्वारा आदर सत्कार पूर्वक प्रार्थना किये जाने पर भी, योगी न तो उन विषयों की ओर मन में आसक्ति करे, और न ही स्वयं की इस उपलब्धि पर गर्व करे, क्योंकि ऐसा करने पर पुनः जन्ममरणादि दुःख रूप अनिष्ट प्राप्ति की सम्भावना हो जाती है। व्यासभाष्य में इस विषय को सुस्पष्ट करते हुए कहा है– हे योगी! यहाँ आकर स्थित होइये। यहीं रमण कीजिए। यह भोग कैसा सुन्दर है। यह कन्या कैसी सुन्दर है। यह कितना गुणकारी दिव्य रसायन है, जो कि वृद्धावस्था व मृत्यु को आने नहीं देता। यह विमान आकाशचारी है। ये कल्पवृक्ष हैं। ये पुण्यतोया मन्दाकिनी है। ये सिद्ध व महर्षिगण हैं। उत्तम तथा सर्वविधिना आपके अनुकूल ये अप्सरायें आपके लिये हैं। ये दिव्य श्रोत्र व नेत्र, वज्रसमान शरीर सब आपके लिए हैं। हे आयुष्मन्! आपने योगाभ्यासरूपी गुण द्वारा यह सब अर्जित किया है। देवों के इस प्रिय अक्षय अजर अमर स्थान का भोग कीजिए। योगी का कर्तव्य है कि इस प्रकार प्रलोभन दिये जाने पर, वह इन दिव्य विषयभोगों की ओर आकर्षित न होकर, अपनी योगसाधना में ही निरन्तर संलग्न रहे। यदि वह इन विषय भोगों में फंस गया तो उसकी योगविषयक प्रगति में विघ्न पड़ेगा। देवताओं द्वारा दिव्य विषयभोग प्रस्तुत किये जाने पर योगी स्वयं ये सोचकर गर्व न करे– मैं तो साधना में बहुत ऊँचा उठ गया हूँ, तथा ये देवता भी मुझे स्वर्ग में भोग्य पदार्थ ग्रहण करने के लिये आमन्त्रित कर रहे हैं। अन्यथा योगी अपनी योगस्थिति से भ्रष्ट हो जायेगा, पतित हो जायेगा।

योगाभ्यास के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली विविध सिद्धियाँ भी साधक के मन में अभिमान उत्पन्न करती हैं। सांसारिक व्यक्तियों के द्वारा की गई प्रशंसा भी साधना में विरति उत्पन्न कर सकती है। फिर तो योगी आत्मशक्ति/योगशक्ति के प्रदर्शन रूपी चक्रव्यूह में फंस कर साधनामार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। अतः पतञ्जलि ने कहा है–ये योग सिद्धियाँ असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति में बाधा डालती हैं, परन्तु व्युत्थित दशा में ये सिद्धियाँ हैं।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है, कि योगमार्ग में अनेक प्रकार के विघ्न अवश्य ही

आते हैं। यदि सांसारिक तथा दैवी विघ्नों से पार होकर योगसाधना में प्रवृत्त रहे तो भी आनुषंगिकरूप से प्राप्त होने वाली योगसिद्धियाँ साधक को पुनः योगमार्ग से विरत कर सकती है।

इस प्रकार योगसाधना का दिव्य मार्ग त्रिविध विघ्नों से परिपूर्ण है। कोई–कोई विरला साधक ही इस मार्ग पर सफलतापूर्वक चल पाता है। अब प्रश्न उठता है, क्या हम इन विघ्नों से भयभीत होकर योगसाधना प्रारम्भ ही न करें, अथवा विघ्नों से साधना में अवरोध आने पर हताश होकर बैठ जायें, साधनाविरत हो जायें? क्या इन विघ्नों के परिहार का कोई उपाय है?

ग:– विघ्न विनाशक उपाय

पतञ्जलि के योगसूत्रों में इन सभी प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है। इन विघ्नों के नाश हेतु अनेक उपाय बताये गये हैं। क्लेशों की गहनता व तीव्रता को न्यून व सूक्ष्म करने के लिये क्रियायोग की साधना अर्थात् तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान एक सशक्त व प्रभावशाली उपाय है। क्लेशों की वृत्ति ध्यान से नष्ट होती है। ईश्वरप्रणिधान सम्पूर्ण विघ्नों का विनाश करता है। पूर्वोक्तरोगादिविक्षेपसहभू दुःखदौर्मनस्यादि वृत्तियों की शान्ति का उपाय है, पुनः पुनः एकतत्त्व का अभ्यास करना अर्थात् ईश्वर के ध्यान का अभ्यास करना।

यदि योगसाधक, पूर्णतः योगसाधना में समर्पणभाव से अभ्यास करता है, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान व ध्यान की क्रियायें करता है तो परमगुरु ईश्वर उस पर अनेक रूपों में कृपा करते हैं तथा उसके मार्ग के सभी अवरोधों को दूर कर देते हैं।

□□□

आत्मा अथवा परमात्मा का ज्ञान विद्या है। इसके अतिरिक्त जो भी है वह अविद्या है। उपनिषद् कहता है – अविद्या की उपासना करने वाले घोर अन्धकार में गिरते हैं, पर उससे भी अधिक गहन अन्धकार में वे गिरते हैं जो विद्या में ही रत रहते हैं। दोनों में से एक को ही पकड़ने वाला पार नहीं पा सकता। संचित संस्कारों के क्षय के लिए अविद्या अर्थात् सांसारिक सुख भोग भी आवश्यक है। ज्ञानपूर्वक भोग (विद्या के साथ अविद्या के भोग) से संस्कारों का बन्धन कटता है। अविद्या के साथ विद्या को मिलाकर चलना कर्म के साथ योग को मिलाकर चलना है। भोग एवं योग, विद्या एवं अविद्या, संसार एवं साधना एक दूसरे के सहायक हैं – अनुपूरक हैं।

अन्तर्मन में अजपा का महत्व

रामेश्वर खण्डेलवाल, गंगापुर सिटी

योग की एक बहुत बड़ी शक्तिशाली व सरल क्रिया है अजपा जप। इस जप का ठीक-ठीक अभ्यास केवल कुछ माह करने पर ही मनुष्य मन को समाहित करने की कला सीख लेता है यह गुप्त क्रिया है। यह केवल गुरु शिष्य परम्परानुगत चली आ रही है। यह क्रिया मानसिक शान्ति और चेतना के विषय विकास के लिये बहुत उपयोगी है। चेतना क्या है? यह हमारे अन्दर की ज्ञान शक्ति है। सूक्ष्म रूप में चेतना सर्व व्यापक है। हमारे शरीर के साथ इसका सम्बन्ध बराबर रहता है।

मनुष्य के तीन चेतन शरीर होता है – स्थूल, सूक्ष्म और कारण। दूसरे शब्दों में चेतन, अवचेतन और अचेतन। चेतना के कई स्तर है। अजपा जप करते समय कुछ ही देर में चेतना शक्तिमय हो जाती है। अजपा करते समय अवचेतन में पहुंचने पर स्वप्न आने लगते है। जमे हुए संस्कारों के कारण ये स्वप्न आते है जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता है, हमारा अन्तःकरण शुद्ध होता है, वैसे-वैसे स्वप्न भी शुद्ध एवं सात्विक होते जाते है। इन स्वप्नों को दृष्टा की तरह देखना चाहिए। जमे हुए संस्कारों की वजह से ये स्वप्न आते है। अजपा का अभ्यास हमको अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष और कारण शरीर को पार कराकर समाधि के शिखर पर ले जाते है। हर व्यक्ति के अन्दर दिव्य शक्ति विद्यमान रहती है। परन्तु व्यक्ति इन्द्रिय सुख में अपनी शक्ति को नष्ट कर देता है। अपनी शक्ति को सांसारिक विषय वासनाओं, काम, क्रोध, लोभ आदि में खर्च करते रहते है। अज्ञानवश अपने अन्दर नहीं देखते है जिनके अन्दर लगन होती है और जो संस्कारी होते है वे बहुत कम समय में ही आगे बढ़ जाते है।

जप चार प्रकार के होते है। एक है 'वाचिक जाप'। वाचिक जाप वह होता है जिसमें बोल-बोल कर जप किया जाता है। उच्चारण के साथ-साथ अर्थ पर भी पूरा ध्यान दिया जाता है। साथ ही इष्ट का भी ध्यान हो तो और भी अच्छा होता है। दूसरा जाप होता है- 'उपांशु जाप'। इस जाप में आपके केवल होंठ हिलते है और आवाज केवल साधक ही सुन सकता है। तीसरा जाप है 'मानसिक जाप' यह सबसे उत्तम जाप है। इस में मन की माला के साथ-साथ मंत्र चलता है। इसमें होंठ भी नहीं हिलते केवल मन ही मन में इसका सुमिरन चलता है।

चौथा जाप होता है वह बहुत गोपनीय होता है जो किसी सिद्ध गुरु द्वारा होनहार साधक को ही दिया जाता है। यह गुरु प्रदत्त मंत्र होता है। यह गुप्त क्रिया है जो केवल गुरु-शिष्य के बीच ही इस का तालमेल रहता है। इस जप में कोई नियम नहीं होता है। अन्य मंत्रों या जापों में शरीर की शुद्धि, स्थान की पवित्रता, फिर इष्ट को स्नान कराना, चंदन लगाना धूप-दीप आदि के द्वारा पूजन करने के बाद मंत्र का जाप शुरू होता है। लेकिन अजपा जप इतना सरल जप है जिसमें कोई नियम नहीं है। बस गुरुदेव द्वारा बताये नियम से अपनी श्वास-प्रश्वास के द्वारा इसको चलाना है। उठते-बैठते, चलते-फिरते कहीं भी, किसी भी अवस्था में चाहे पलंग पर लेटे है या अपनी दुकान

या आफिस में बैठे है। बस अपनी सांसों में इसको चलने दो। हमारे अन्दर भरा हुआ खजाना हम ढूंढ नही पाते और दुनिया के खजाने के लिए मारे–मारे फिरते है। हमारे अन्दर कितनी शक्ति छुपी हुई है उसको हम प्राप्त करने की कोशिश नहीं करते। अगर हम अन्दर की शक्ति को प्राप्त कर ले तो संसार की शक्ति तो अपने आप दौड़ी चली आयेगी।

आत्मा को जगाने के लिये सबसे पहले मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की तहों को भेदना पड़ता है। इसके लिये साधना का आश्रय लेना पड़ेगा। सूक्ष्म को पकड़ने के लिये सबसे सुगम साधन है अजपा जप। यह ऐसी साधना है जिससे स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाया जा सकता है अन्दर गहराई मे उतर कर अथाह शांति को पा सकते है। अजपा जाप करते–करते चेतना धीरे–धीरे सूक्ष्म होती जाती है और एक अवस्था ऐसी आती है जब मनुष्य सूक्ष्म में चला जाता है। अपने आप को भूल जाता है।

संसार में अधिकांश लोग तो ऐसे है, जिनका प्रभु के भजन से कोई सरोकार नहीं है। वे ईश्वर को मानते तो है परन्तु भगवत चिन्तन की आवश्यकता नहीं समझते। थोड़े ऐसे है जिनके मन में भगवत प्राप्ति की इच्छा जागती है और वे उसके लिए साधन मे लग जाते हैं, परन्तु उनमें भी बहुत ही थोड़े ऐसे होते है, जो ध्येय की प्राप्ति तक साधन में भली भांति लगे रहते हैं और अपनी मंजील तय करते है।

इसका कारण यही है कि साधना में प्रवृत होते समय प्रायः मन में जो उत्साह, तत्परता और लगन देखी जाती है वैसी आगे चल कर नहीं रहती। साधना में शिथिलता आ जाती है। लगन कम हो जाती है। उसमें रस नहीं आता। कुछ लोग सोचते है कि इतने दिन हो गये साधना करते मगर अभी तक हमें तो किसी तरह का कोई फायदा नही हुआ। हमारा कोई लौकिक काम नहीं हुआ, हमारा व्यापार, धन्धा अच्छा नहीं चलता। इस तरह की बातों को सोच कर साधना को छोड़ बैठते है।

भगवत प्राप्ति में कोई कामना, कोई शर्त नही होनी चाहिये। केवल एक ही भाव होना चाहिये उस परम पिता की प्राप्ति, उसकी भक्ति बस हमें और कुछ नहीं चाहिये। उसके प्रति पूर्ण समर्पण भाव से भजन ध्यान में लग जाये तो क्या वो हमारा ध्यान नहीं रखेगा? क्या वो हमें अभाव में रहने देगा? अगर हम उसके प्रति पूरी तरह समर्पित है तो वो भी हमारा पूरा ध्यान रखता है। अगर हमें उसकी भक्ति का भण्डार मिल जाये तो संसार की धन–दौलत उसके आगे कुछ भी नही है।

ध्यान साधना नर से नारायण बनने की अर्न्तयात्रा है परमात्मा में प्रतिष्ठित होने का प्रयास है। साधना विश्वास है मन का, सदगुरुदेव भगवान बताते है कि हमको अपने मन को कहीं ना कहीं तो लगाना है। तो क्यों नहीं हम उसको परमात्मा में ही लगायें। जब तक अपने मन में गुरुदेव के प्रति उनकी वाणी के प्रति, उनके बताये नियमों में जितना ज्यादा विश्वास लेकर अपनी साधना में तत्परता दिखायेगें पूरी लगन से हम उनके बताये मार्ग पर चलेगें तो हमें परमपिता के सानिध्य में जाने से कोई नहीं रोक सकता।

गुरु कृपा कभी व्यर्थ नही जाती। यह कृपा साधक के साथ जन्म–जन्मान्तरों में भी रहती है। गुरु कृपा प्राप्त होते ही साधना में उन्नति होती जाती है। किसी को साधना की अनुभूति जल्दी

होती है किसी को कुछ देर बाद होती है। यदि कुछ अनुभूति नहीं हो तो भी साधक को अपनी साधना को पूर्ण श्रद्धा से, सत्कार से करते रहना चाहिए। अजपा मंत्र सिद्ध मंत्र है। हमारे अन्दर की शक्ति को जगाने में बहुत सिद्ध कारक है। हमारे शरीर में कितनी शक्तियाँ छिपी हुई है, इसकी पहचान कोई नहीं कर सकता। इस का ज्ञान सिद्ध पुरुष या सदगुरु देव के द्वारा ही मिलता है। साधक अपनी पूरी लग्न से अपनी साधना में लग जाये तो उसको इस शरीर के अन्दर छुपे हुए खजाने को पा सकता है। साधक जितना अन्दर गहराई में जायेगा उतना ही उसको ज्यादा से ज्यादा लाभ मिलता जायेगा। अपनी श्वासो को काबू में करके उन श्वासो में मंत्र को बसा ले और फिर श्वासों के साथ अपने गुरु मंत्र के साथ, गुरु की कृपा के साथ अन्दर उतरते चले जाओ। तुम पाओगे अलग तरह की शान्ति। मन को पूर्ण शान्ति मिलती है। गुरु मंत्र को पूर्ण श्रद्धा से उसे प्रत्यक्ष भगवान का समझ कर जाप करो। मंत्र में हमारे गुरुदेव की शक्ति विराजमान रहती है। हमारे गुरुदेव मूर्तिमान होकर रहते है।

कोई बताओ

कोई बता दो, गुरुदेव गए किस ओर?
छोड़ हमें जहाँ जाय विराजे, है कहाँ वह पावन ठौर ।।
कोई बता दो, गुरुदेव गए किस ओर ।।
कुछ ने मुझे, अंसपुर गाँव बताया । माँ बसती के घर, जन्म जहाँ पाया ।।
ओंकार का पाठ, पिताजी ने पढ़ाया । गुरुस्वरूप ने, अपना रूप दिखाया ।।
आज बना है वहाँ, इक सुन्दर मन्दिर । इनकी जीवन झाँकी, चित्रित जिसके अंदर ।।
सुन्दर दृश्य देख वहाँ के, होता मन हर्ष विभोर । कोई बता दो..............
कुछ लोग कहें, ऋषिकेश मिलेंगे । धोती कुरता धारी, ब्रह्मचारी वेश मिलेंगे।।
गुरुवर के संग, प्रभुजी के होंगे दर्शन । जीवन के दर्द मिटें, जब हम करें समर्पण ।।
साधना हेतु जंगल जाने को, पग जो उठाया। आश्रम द्वार प्रभुजी का, पत्र एक पाया।।
हम बैठे हैं बस्ती में बच्चा, तुम चले जंगल की ओर । कोई बता दो..............
कुछ समझाते, उनका धाम सवाई । करने प्रभुजी का काम, यहाँ कुटिया बनवाई।।
है निवास वहाँ, मन ताप मिटाते । ध्यान–साधना–गुरुमंत्र का, जाप कराते ।।
जीवन–तत्त्व–साधन, नेति क्रिया करावें। भर–भर चम्मच, फिर हलुआ खिलावें ।।
जो कोई आवे, पाँव लगावें, सब गुरुजन में सिरमौर । कोई बता दो..............
नील धार गंगातट हरिद्वार जा, गुरुवर को पुकारा ।
पड़ा सुनाई 'लल्ला' 'मुनिवों' वाला, स्वर वो प्यारा ।।
मत भटको लल्ला, सच्चे मन से आवाज लगाओ । प्रतिक्षण हर जगह, तुम मुझको पाओ।।
प्रभुजी का हर बच्चा, है मुझको प्यारा । करने उद्धार, स्थूल से रूप सूक्ष्म मैंने धारा।।
सुन वाणी को 'चन्दानन्द' का, नाच उठा मन मोर ।
छोड़ हमें कहीं गए न गुरुवर, प्रगट हैं हर ठौर ।।
सुनो रे भइया, गुरुवर प्रगट है चहुँ ओर ।
छोड़ हमें कहीं गए न गुरुवर, प्रगट हैं हर ठौर ।।

आर.बी. श्रीवास्तव
'चन्दानन्द', ग्वालियर

'मोहन' मोहन में रमें !

प्रेषक– अशोक द्विवेदी, झाँसी

सद्गुरु चरणानुरागी सद्शिष्य गोलोकवासी श्री मोहन लाल अग्रवाल (लखनऊ)
को श्रद्धा सुमन समर्पित

''मोहन'' मोहन में रमें, बन गुदड़ी के ''लाल''।
नश्वर देह को त्यागकर, हो गये मालामाल।।

1– प्रभु चरणों के अनुरागी बन,
जीवन भर रहे ''त्यागी''।
साथ रहे तन मन धन से,
श्री स्वामी जी ''वैरागी''।।
श्रद्धा भक्ति में डूबे रहे, प्रभुजी की लेके मशाल।
मोहन.........................

2– सादा जीवन, सादा भोजन,
सादा रहन सहन था।
एक तरफ गृहस्थ जीवन,
एक ओर प्रभु चिंतन था।।
''सिद्धयोग'' के बने दूत, हो गये पूर्ण निहाल।
मोहन.........................

3– कर्तव्य परायण, सत्य निष्ठ,
मृदुभाषी सरल हृदय थे।
गुरू सेवा भाव कूट–कूट कर,
अपने हृदय भरे थे।।
एक तत्व में लीन रहे, छोड़ सभी जंजाल।
मोहन.........................

4– अन्त समय काशी में रहकर,
काशी वासी हो गये।
प्रभु रामलाल का अभयदान पा,
सद्गुरु चरणों में सो गये।।
सद्गुरु भक्ति की दिखा गये, बन के एक मिशाल।।
मोहन.........................

साधक और गुरू: विश्वास का बंधन

दृष्टिकेतु सिंह पुण्डीर, अलीगढ़

धर्म पुस्तकें तीन प्रकार के साधकों या खोज करने वालों के विषय में बात करती है। सब से ज्यादा निपुण विद्यार्थी अपने गुरू के शब्दों को पूर्ण जीवित प्राणी की तरह सुनता है। यदि गुरू उसे बताता है कि ''तुम ब्रह्म हो'' वह ब्रह्म के विषय में पूर्ण वास्तविकता को महसूस करता है।

वह कैसे घटित होता है?

क्योंकि वह पूर्ण रूप से सुनता है उसका पूर्ण अस्तित्व ध्यान से सुनने में लगा होता है। वह अविभाजित विश्वास और अगाध प्रेम से ध्यान से सुनता है। रोजाना विद्यार्थी जानने की न बुझने वाली प्यास लिए हुए होता है। वह अपने पूर्ण अस्तित्व से गुरू के शब्दों को पी जाता है। कहावत **''तुम ब्रह्म हो''** उस के हृदय में सीधी उतर जाती है और सच्चाई से इसे महसूस करता है।

ऐसा शिष्य शुरुआत करने वाले का सम्मान रखता है। उसने तमाम धर्मपुस्तकों का अध्ययन कर लिया हो फिर भी वह शुरू करने वाले और एक बच्चे की तरह ही रहता है। वह अत्यधिक रूप से विनम्र होता है और सच्चा ज्ञान उस में प्रवाहित होता है। सब से गहरा ज्ञान केवल तभी उपलब्ध होता है जब तुम अपने पूर्ण अस्तित्व से भाग लेते हो, जब तुम हर सृष्टि के सामने विनम्रता से शीश झुकाते हो।

द्वितीय प्रकार का शिष्य :-

द्वितीय प्रकार का शिष्य सुनता है लेकिन आंशिक रूप से। उस को सच्चाई महसूस करने में ज्यादा समय लगेगा। वह पूरे अस्तित्व से नहीं सुनता है, बल्कि भावात्मक रूप से। वह समग्र रूप से नहीं सुनता है उसका सुनना विभाजित होता है, उसका विश्वास और प्रेम विभाजित होता है।

इसलिए गुरू को ऐसे शिष्य के प्रति बहुत ही धैर्यशील होना होता है ताकि वह पूर्ण ध्यान से गुरू की सुन सके। वह फिर भी हर चीज भूलने और पूर्ण अस्तित्व से भाग लेने की कला नहीं जानता। सच्चा ज्ञान तभी उस में प्रवेश कर सकता है जब वह गुरू की ऐसी तीव्रता (अलीनता) से सुनता है कि वह अपने आप को भूल जाता है। चंचल और संदेहास्पद मन निर्दोष शुरुआत करने वाले की आशा नहीं देगा ताकि ज्ञान उस में प्रवाहित हो सके। भरोसा करने का कभी–कभी प्रबन्ध करता है लेकिन इसके पहले बेचैनी लौट आती है, चित में भावना की उत्पत्ति होती है और चली जाती है।

मन को बिलकुल व्यवधान नहीं डालना चाहिए। इस को कोई प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। केवल तभी मन व्यवधान डालना बंद करता है। और समग्र सुनाई सम्भव हो जाती है। तब तक शिष्य केवल आंशिक रूप में सुनेगा। लेकिन एक सच्चा गुरू जो धैर्यशीलता और दया लिए हुए होता है, उसे अपने अंतिम ध्येय तक पहुँचाने में सहायता करेगा।

तृतीय प्रकार के शिष्य :–

तृतीय प्रकार के शिष्य वह होते हैं जो बौद्धिक रूप से झुके हुए है। वह अंदर बातूनी होता है और उस का मन इतनी ज्यादा सूचनाएँ रखता है कि वह बिलकुल नहीं सुन सकता। ऐसा शिष्य आत्मश्लाघी (अहंकारी) होगा और उस में मेरे–तेरे की भावना प्रधान होगी। गुरू को उसे रोशनी में लाने के लिए अनंत धैर्य से इन्तजार करना होता है। शिष्य की सुनने की क्षमता अत्यधिक रूप से कमजोर होती है, क्योंकि वह यह नहीं जानता कि कैसे एक निर्दोष शुरू करने वाला हो। वह झुक नहीं सकता है और इसलिए विनम्र नहीं हो सकता है यद्यपि गुरू बार–बार उस को दुहराता है, तुम ईश्वर हो! तुम ईश्वर हो।............तुम पूर्ण ब्रह्म हो।" शिष्य स्थाई रूप से अपने अंदर पूछ रहा होगा "कैसे?, क्यों?, क्या?" और "कब?" क्योंकि उसकी बुद्धि अपने और धर्म पुस्तकों के विचारों से ठूँस–ठूँस कर भरी होती है। ऐसे शिष्य को रास्ते पर लाने के लिए गुरू को विशाल धैर्य की निश्चय ही जरूरत होगी। दैवीय वार्तालाप ऐसे शिष्य के मन के द्वार खोल सकता है। सच्चा गुरू ऐसे साधक के अहंकार को तोड़ सकता है। सच्चा गुरू ही ऐसे शिष्य के सीमित ज्ञान में वृद्धि कर सकता है। इस के लिए सच्चे गुरू में अटूट श्रद्धा, विश्वास और अतृप्त ज्ञान की पिपासा

□□□

शोक संवेदना

बड़े दुःख के साथ सूचना दे रहे हैं कि चण्डीगढ़ निवासी श्री कुन्दनलाल सचदेवा के सुपुत्र श्री दीपक सचदेवा का 15 अप्रैल को देहावसान हो गया है। इस दुःख के समय में हम आश्रम वासी व 'सिद्धयोग' परिवार हार्दिक संवदेना प्रकट करता है। श्री प्रभु जी अपने इस इस बालक को अपना **अभय चरण कमल दें। तथा दुःख संतप्त परिवार को भी इस गहरे दुःख को सहन करने की शक्ति दें।**

–सम्पादक सिद्धयोग

जीवात्मा और परमात्मा की एकता

पं० श्रीहरिकृष्णजी झा

'उपनिषद्' शब्द का अर्थ है– उप समीप निषीदति प्राप्नोति–इति उपनिषद् अर्थात् जिसके द्वारा परम समीपभूत ब्रह्म का साक्षात्कार हो, वह हुआ उपनिषद्। 'तत्त्वमसि' इस उपनिषद्–महावाक्य में 'तत्, त्वम्, असि' शब्द त्रय का सम्मिश्रण है। 'तत्' अर्थात् वह परवाचक शब्द है, 'त्वम्' (तू) यह स्वबोधार्थक है, 'असि' (हो)– यह शब्द 'तत् और त्वम्' दोनों की एकता का प्रतिपादक है। जहत्–अजहत्–भागत्याग के भेद से लक्षणा तीन प्रकार की होती है। जिसमें कहे हुए को छोड़कर तथा उससे सम्बन्धित दूसरी को ग्रहण किया जाय उसे जहल्लक्षणा कहते हैं। यथा 'गङ्गायां यज्ञदत्तस्तिष्ठति' यहाँ पर गङ्गा को छोड़कर तत्रस्थ गृह का बोध होता है। जिसमें कहे हुए और उससे सम्बन्ध रखनेवाले का भी ग्रहण हो, उसे अजहल्लक्षणा कहते हैं। यथा– 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' – अर्थात् कौओं से दही की रक्षा कीजिये। यहाँ काकातिरिक्त जीवमात्र का भी बोध होता है। भागत्यागलक्षणा उसे कहते हैं, जिसमें उपाधि छोड़कर सत्यांश का ग्रहण हो। यथा 'अयं मनुष्यः स एव' –यह मनुष्य वही है। इससे मनुष्य मात्र का ग्रहण होता है। भूत और वर्तमानकालिक उपाधि त्याज्य है।

अब 'तत्', 'त्वम्' 'असि' में 'सोऽयं देवदत्तः' के समान भागत्यागलक्षणा की ही प्राप्ति होती है, क्योंकि शुद्ध सत्त्वगुण, और मलिन सत्त्वगुण, इन्हीं उपाधियों से जीवात्मा और परमात्मा के भेद कल्पित हैं। अर्थात् शुद्ध सत्त्वगुण में पड़ा हुआ बिम्ब माया को स्वाधीन करने से हिरण्यगर्भता को प्राप्त होकर जगत् का उपादान कारण है। इसी निमित्त उपादानात्मक को 'तत् ब्रह्म' कहते हैं। फिर वही बिम्ब जो कि मलिन सत्त्वगुण में पड़ता है, अविद्या के वशीभूत होकर विविध कामनाओं तथा कर्मों से दूषित होने से 'त्वम्' जीव शब्द से व्यवहृत होता है। इन परस्परविरोधिनी शुद्ध सत्त्व और मलिन सत्त्वरूप उपाधियों को छोड़ देने से 'त्वम्' (जीव) तथा तत् (ईश्वर) की एकता होती है। पुनः शुद्ध सत्त्वगुण उपाधिरहित ईश्वर और मलिन सत्त्वगुण उपाधिरहित जीव का अद्वितीय सच्चिदानन्द परब्रह्म में ही समावेश होता है। इस प्रकार माया और अविद्यारूपी उपाधि का त्याग करके ही अखण्ड सच्चिदानन्द 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्त–महावाक्य से लक्षित होता है, इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा की एकता होती है।

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः।
अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते॥

इस एकता की प्रक्रिया यों है–

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः आत्मसाक्षात्कारः कर्तव्यः।

अर्थात् अध्यात्मनिष्ठ गुरुदेव के पास जाकर उक्त तत्त्वमस्यादि वाक्यों का अर्थाध्ययन कर चित्त में स्थिर रखना 'श्रवण' शब्द से कथित है। श्रुत पदार्थ का सयुक्तिक पुनः–पुनः विचार

करना 'मनन' है। मनन और श्रवणद्वारा निस्सन्देह हुई चित्त की एकाकार वृत्ति को 'निदिध्यासन' कहते हैं–

तिाभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते।।

जब पवन रहित दीपक के तुल्य ध्येय में ही चित्त हो, ध्याता और ध्यान का ज्ञान न रह जाये, उसे समाधि कहते हैं।

समाधि का दूसरा नाम

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते।।

समाधि का अन्य नाम धर्ममेघ भी है, क्योंकि इससे धर्म की सैकड़ों धाराएँ निकली हैं। समाधि से सञ्चित कर्म नष्ट होते हैं तथा निर्मल धर्म की वृद्धि होती है। प्रथम समाधि द्वारा परोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है, तदनन्तर अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है। सद्गुरुओं की कृपा से महावाक्यों द्वारा प्राप्त परोक्ष ज्ञान अग्निसदृश सम्पूर्ण पातकों को जलाकर भस्म करता है। अपरोक्ष ज्ञान तो इस संसार से उत्पन्न अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाला सूर्य ही है। इस रीति से 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा जीवात्मैक्य की अपूर्वानुभूति होती है।

❑❑❑

मृत्योर्बिभेषि किं मूढ भीतं मुंचति किं यमः।
अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि।।

अरे मूर्ख (मनुष्य)! क्या तुम मृत्यु से डर रहे हो? डरे हुए को क्या मृत्यु छोड़ देती है? ऐसा समझ रहे हो तो यह तुम्हारी मूर्खता है। मृत्यु तो सबको काल का ग्रास बना देती है। वह तो जो जन्म ही नहीं लेता, उसी को नहीं पकड़ती है। इसलिए ऐसा प्रयत्न करो जिससे पुनः जन्म ही न लेना पड़े।

नयनों की भाषा वरदान है

निर्मला चन्देल
उदयपुर (राजस्थान)

आँखें है प्रसन्नता से प्रेरित होने वाली
मानवीय भावों को बिन बोले बताने वाली
स्नेहाभिषेक को बढ़ाने वाली
वात्सल्य सुख अभिव्यक्त करने वाली
नयनों की भाषा, प्रेम को रिझाने वाली
नयनों से नयन, आत्म मिलन करवाने वाली
वियोग से अश्रुयुक्त होने वाली
संयोग से महकने वाली
विरह वेदना से, पथराने वाली
इशारों इशारों से मुस्कराने वाली
क्रोध को उभारने वाली
दहकते अंगारों को–
आँखों ही आँखों से चमकाने वाली
मृगनयनी चुलबुली आँखें
चंचलता को दर्शाने वाली
लज्जा से अनुप्रेरित
शर्म से झुक जाने वाली
क्षमा को बोले नयना
अनुभूति को समझाने वाली
शान्ति की प्रतीक आँखें
सागर का आकलन करती है
मन से छलक पड़ती है
खुशी से चहक उठती है
आध्यात्मिकता की प्रतीक आँखें
श्रद्धा से नमन करती है
गुरुवर के चरण तक
सिद्धयोग के योगेश्वर जी के
आशीष से–
आत्मा संतृप्त होती है
सूर्य चन्द्र की ज्योति की
प्रतीक आँखें–
महादान का वरदान होती है
नेत्रदान का उपहार होती है

आरोग्य प्रदाता प्रकृति के अष्ट रूप

डॉ. रामकिशोर मिश्र

जो प्राणी प्रकृति में रहता है, उसे प्रकृति के आठ रूप आरोग्य प्रधान करते है। प्रकृति के आठ रूप हैं–जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु। प्रकृति के ये आठों रूप यदि स्वच्छ और निर्मल तथा प्रसन्न हैं तो इनके सहयोग से यह जीव–जगत् सदा स्वस्थ रहता है। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल के नान्दीपाठ में प्रकृति के इन आठ रूपों का भगवान शिव की अष्टमूर्तियों के रूप में स्मरण किया है–

> या सृष्टिः स्त्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
> ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
> यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
> प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् 1/1)

कालिदास ने प्रकृति को शिव और प्रकृति के अष्टरूपों को शिव की अष्टमूर्तियाँ माना है। इन अष्टमूर्तियों का सीधा सम्बन्ध पृथ्वी के जीव–जगत् से है।

(1) जब विधाता ने सृष्टि की रचना की तो उन्होंने सर्वप्रथम जल की रचना की। अतः कालिदास ने सबसे पहले शिव की जलमयी मूर्ति का स्मरण किया है– '**या सृष्टिः स्त्रष्टुराद्या**' – स्त्रष्टा की आद्य सृष्टि अर्थात् जल। स्वच्छ और निर्मल जल के सेवन से शरीर स्वस्थ हो जाता है। जल जीवन है। जल के बिना प्राण–रक्षा नहीं होती। जल अन्तर्गत होकर शरीर के विकारों को नष्ट कर देता है। जल में समस्त रोगों को नष्ट कर देने वाली औषधियों को उत्पन्न करने की शक्ति का वास है, जिससे समस्त बीज जलग्रहण कर अंकुरित हो अपने रूप को वृद्धिगत करते हैं और उनसे प्राणियों का शरीर आरोग्य प्राप्त करता है।

(2) प्रकृति अर्थात् शिव का द्वितीय रूप अग्नि' है, जिसे कालिदास ने '**वहति विधिहुतं या हविः**' के रूप में स्मरण किया है, जिसका अर्थ है कि जो मूर्ति विधिपूर्वक हवन की गयी हव्य–सामग्री को ग्रहण करती है अर्थात् अग्नि। अग्नि समस्त प्रकार के रोगों को अपने प्रभाव से नष्ट कर देती है। इस प्रकार अग्नि प्राणी के बहुत से रोगों– मन्दाग्नि आदि को नष्ट करके उसके शरीर को आरोग्य प्रदान कर स्वस्थ बनाती है।

(3) प्रकृति का तृतीय रूप – यजमान है। सृष्टि के समस्त कर्म यज्ञ हैं और यज्ञों का कर्ता यजमान होता है। अतः विधाता सबसे पहला यजमान था, जिसने सृष्टियज्ञ अर्थात् पृथ्वी की रचना की। वह सृष्टिकर्म अनवरत हो रहा है। इस पृथ्वी का प्रत्येक क्रियाशील प्राणी होता–यजमान है। यजमान स्वकृतयज्ञ से उत्पन्न धूम से जगत्प्रदूषण को नष्ट कर प्राणियों को आरोग्य प्रदान करता

है।

(4) (5) '**ये द्वे कालं विधत्तः**' कालिदास के इस वाक्य से– जो दो मूर्तियाँ अर्थात् सूर्य और चन्द्र काल अर्थात् दिन और रात्रि, का विधान करते हैं, वे प्रकृति अर्थात् शिव के चतुर्थ और पचम रूप हैं, जिनका इस सृष्टि से अटूट सम्बन्ध है।

सूर्य समस्त जगत् की आत्मा है। ये जगत् का नेत्र और सविता–जनक है। इनके बिना हम सब अन्धे हैं। यदि ये न हों तो पृथ्वी पर कुछ भी उत्पन्न नहीं होगा। इन्हीं के प्रतिदिन उदित होने से संसार की गतिविधियाँ चलती हैं। अपनी किरणों से ये जीव-जगत् को आरोग्य प्रदान करते हैं। इसीलिये आरोग्य के अभिलाषी को सूर्योपासना करने का निर्देश शास्त्रों में प्राप्त है– '**आरोग्यं भास्करादिच्छेत्**' (मत्स्य पु0)

चन्द्रमा निशापति और औषधिपति हैं। ये औषधियों में रसों का संचार करते हैं और उन्हें पुष्टकर प्राणियों को आरोग्य प्रदान करते हैं। उन पुष्ट औषधियों का सेवन प्राणी करते हैं, जिससे शरीर नीरोग होता है।

(6) प्रकृति का छठा रूप आकाश है, जिसे '**श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्**' कहकर कालिदास ने शिव की छठी मूर्ति बताया है। इस आकाश में अनन्त ब्रह्माण्ड और अनेक गंगाएँ समाहित हैं। इसका सर्वाधिक विशाल रूप है। यह समस्त जीव–जगत् को श्रवणशक्ति प्रदान करता है।

(7) प्रकृति का सप्तम रूप पृथ्वी है, जिसे कालिदास ने '**यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति**' अर्थात् जिसे समस्त बीजों को उत्पन्न करने वाली कहकर स्मृत किया है। पृथ्वी अन्नादि समस्त बीजों की जननी है। अन्नादि से प्राणियों की भूख शान्त होती है और शरीर हृष्ट–पुष्ट होता है। अतः पृथ्वी अपने से उत्पन्न अन्न, वनस्पति आदि से प्राणियों को आरोग्य प्रदान करती है।

(8) प्रकृति का अष्टम रूप वायु है, जिसे कालिदास ने '**यया प्राणिनः प्राणवन्तः**' अर्थात् जिसके द्वारा प्राणी प्राणवाले होते हैं– कहकर शिव की अष्टमूर्ति के रूप में स्मृत किया है। वायु सतत बहता है। इसी से समस्त प्राणी जीवित हैं। यह अन्तरिक्ष–मार्ग पर चलता हुआ क्षणभर के लिये भी नहीं रुकता। यदि यह क्षणभर के लिये भी कहीं रुक जाय तो प्राणियों का जीवन समाप्त हो जायेगा। प्राणियों में श्वासस्पन्दन ही तो जीवन है और वह वायु से संचालित होता है। अतः वायु हमारे प्राणों की रक्षा करता है।

यह अष्ट रूपा प्रकृति तो निरंतर हमारे कल्याण में लगी रही है, किन्तु आज सारा वातावरण, समस्त परिवेश, अन्न, जल, वायु, सभी कुछ दूषित होता जा रहा है तो इसमें आश्चर्य कैसा? आज के दूषित समय में सर्वथा आरोग्य रह पाना प्रायः कठिन हो गया है। प्रकृति के साथ की जा रही छेड़छाड़ को यदि हमने नहीं रोका तो वह दिन दूर नहीं, जब हम सबका सर्वनाश सुनिश्चित होगा।

पहले हमारे समस्त कर्म यज्ञ द्वारा प्रकृति के इन अष्ट रूपों में से अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि की आराधना और उपासना की दृष्टि से होते थे। यज्ञ, हवन होमादि में निक्षिप्त घृतादि हव्य सामग्री

से उत्पन्न सुगन्धित धूमों से समस्त पर्यावरण सहित वातावरण शुद्ध तथा सुगन्धित होता रहता था; किन्तु आज हमारे कार्य, उद्योग तथा व्यापार की दृष्टि से हो रहे हैं जिसके कारण धुँआ उगलते वाहनों और घातक विस्फोटकों के जहरीले धुँए से न केवल नगरों की ही नहीं अपितु ग्रामीण क्षेत्रों का वायु भी इतना कलुषित तथा प्रदूषित हो चुका है कि उसे इन फेफड़ों में भरना खतरे से खाली नहीं है। यह सब हो रहा है और हम सब ऐसा करते रहे तो प्रकृति अर्थात् शिव के इन अष्ट रूपों को विकृत (रुद्र) रूप धारण करना ही होगा, जिससे विभिन्न घातक रोगों की उत्पत्ति अनिवार्य है।

दुस्तोयापानाद्विषमाशनाच्च दिवाशयाज्जागरणाच्च रात्रौ।
संरोधनान्मूत्रपुरीषयोश्च षड्भिः प्रकारैः प्रभवन्ति रोगाः॥

अर्थात् दूषित जलपान, विषम भोजन, दिन में शयन, रात्रि में जागरण, मूत्र और पुरीष (मल) के रोकने से रोग उत्पन्न होते हैं। प्रथम दो कारणों को छोड़ कर शेष चार कारणों से जो रोग उत्पन्न होते हैं, उन्हें व्यक्ति अपने उस आचरण को छोड़कर रोगों से मुक्त हो सकता है और आरोग्य प्राप्त कर सकता है। प्रथम दो कारणों में दूषित जल को उबालकर शुद्ध किये गये जलपान से और विषम भोजन त्याग कर सम भोजन करने से व्यक्ति नीरोग रह सकता है।

हमारे द्वारा की गयी अनुचित छेड़छाड़ के कारण आज न तो जल ही शुद्ध रह है और न अन्न। दूषित अन्न के खाने से न जाने कितने विषैले तत्वों को हम उदरस्थ कर शारीरिक विकृतियों को प्राप्त कर रहे हैं।

हमारे पूर्वज प्रकृति के इन अष्टरूपों की आराधना और उपासना करते थे। ऋग्वेद उपासना-सूक्तों से भरा पड़ा है, जिनमें उषसूक्त, अग्निसूक्त, वरुणसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त आदि पठनीय है। सूर्य के विषय में तो सविता, पूषा, मित्र आदि सूक्तों में भी वर्णन प्राप्त होता है। वरुण जल के देवता हैं। वरुणसूक्त में जल के विषय में वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त विष्णु, रुद्र, मरुत्, पर्जन्य आदि पर उपासनासूक्त मिलते हैं, इनमें वायु के विषय में मरुतसूक्त है। प्रकृति पूर्वजों की पूज्या थी, किन्तु हमारे लिये भोग्या है। इसलिये हमारे समस्त कार्य जो विकास, प्रगति और उन्नति के नामपर हो रहे हैं, वे सब प्रकृति-विरोधी हैं। प्रकृति का विरोध विनाश और मरण को आमन्त्रित करना है।

अब भी समय है कि हम उन कार्यों से विरत हों, जिनके करने से प्रकृति कलुषित और प्रदूषित हो रही है। जब प्रकृति के अष्ट रूप पूर्ववत् स्वच्छ, निर्मल और प्रसन्न होंगे तो फिर हमें कोई रोग नहीं होगा और हम नीरोग रहेंगे। अतः हम महाकवि कालिदास के शब्दों में प्रकृति (शिव) के उन प्रत्यक्ष अष्टरूपों (मूर्तियों) की स्तुति करते हैं, वे सबको रक्षा (आरोग्य) प्रदान करें-

प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।

□□□

निष्काम-कर्मयोग--मोक्ष का द्वार

प्रो. गोपालचन्द्र मिश्र

संसार संसरणशील अर्थात् चंचल है। चंचलता क्रिया से उत्पन्न होती है। क्रिया के प्रादुर्भाव में त्रिपुटी का सन्निधान है। 'त्रिपुटी' शब्द का विभिन्न शास्त्रों की परिभाषा में विभिन्न अर्थ है। हमने यहाँ 'त्रिपुटी' शब्द का व्यवहार क्रिया के प्रादुर्भाव सम्बन्धी उन तीन भावात्मक जीवगत स्थितियों के लिए किया है, जिनको दार्शनिक (1) जानाति, (2) इच्छति और (3) यतते— इन शब्दों से बताते हैं। जीव चाहे मानव हो या पशु-पक्षी या कीट-पतंग सभी क्रिया करने के पूर्व मन में कुछ जानी या सुनी या कल्पित बात को विचारता है। यह भावी क्रिया का मूलभूत ज्ञान है। इसके बाद वह उस क्रिया को साकार करने-हेतु इच्छा करता है। इच्छा करते समय जीव अधिकार या इष्ट-अनिष्ट विचार की परिधि के बन्धन की मर्यादा की उपेक्षा कर सकता है। फलतः वह अपने विचार को साकार तथा इच्छा को सफल बनाने के लिए यत्न या चेष्टा करता है, यही चेष्टा उसकी क्रिया है, जो अन्य जीवों की दृष्टि या समझ में आती है। अधिकार तथा इष्ट-अनिष्ट के विवेक से रहित क्रिया फलवती अवश्य होती है, पर उसका फल लाभप्रद ही हो यह निश्चित नहीं है। ऐसी ही अविवेक-प्रयुक्त क्रिया हास्यास्पद है। वह व्यक्ति, कुल, देश, राष्ट्र को पतनोन्मुख बनाती है।

विवेक-मूलक क्रिया बिगाड़ करती, भले ही किसी कार्य कारण-वश परिस्थिति अनुकूल फलदायी न बन सके। ऐसा होने पर भी व्यक्ति का स्वयं या दूसरों की दृष्टि में आत्मबल नहीं गिरता अर्थात् विवेक-मूलक क्रिया से व्यक्ति, कुल, देश, राष्ट्र स्थिर बने रहते हैं तथा उत्तरोत्तर गौरवान्वित होते रहते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता में योगिराज श्रीकृष्ण ने जीवों की क्रिया करने की स्वाभाविकता को **"नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"** अर्थात् कोई भी जीव बिना क्रिया करता हुआ एक क्षण भी नहीं रहता— इस प्रकार बताया है। भगवान् ने इन शब्दों में स्वाभाविक जीवन से सम्बद्ध अपरिहार्य क्रियाओं के साथ ही विवेकमूलक क्रियाओं का भी संकेत किया है।

जीवन की अपरिहार्य क्रियाएँ— श्वास लेना, खाना-पीना, मल-मूत्र परित्याग आदि कर्म जीव की सत्ता से सम्बद्ध हैं, जब कि विवेकमूलक क्रियाएँ जीव की विशिष्टता (मुमुक्षा आदि) से सम्बद्ध हैं। स्वाभाविक अपरिहार्य क्रियाओं को भी विवेक अर्थात् शास्त्र-सदाचार-नियमित मर्यादा की परिधि में बाँध दिया जाय तो उनमें निखार आकर एक तेजस्विता आ जाती है। इसी तेजस्विता को सुरक्षित रखने की स्थिति को आचार कहते हैं। आचार ही विश्व के समस्त प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध, विलीन या प्रचलित धर्मों का मूल है। यदि आचार न हो तो धर्म या धार्मिकता का उदय न हो। धर्म का बाह्य प्रकाश्य स्वरूप आचार है।

मनीषियों का अनुभव है कि साम्प्रतिक युग में लोगों में धर्महीनता तेजी से बढ़ती जा रही है। धर्महीनता से विश्व में अनिश्चितता और अशान्ति होती है। धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है, जो व्यक्ति, कुल एवं देश-राष्ट्र को निश्चिन्तता और शान्ति दे सकता है। धर्महीन मानव तो पाशविक वृत्तियों

के अनुगमन से पशु बन जाता है। ऐसे व्यक्ति को वेद की भाषा में 'अनद्धा पुरुष' कहते हैं। देश में 'अनद्धा पुरुष' का होना पतन की सूचना है। आज ऐसे पुरुषों की संख्या बढ़ गयी है।

आजकल धर्म के नाम से बहुत-से 'मत-मतान्तर' प्रचलित हैं। व्यक्ति परिस्थिति, वातावरण या बुद्धि-विवेक से किसी मत का धर्म समझ बैठता है, मत धर्म नहीं होते। धर्म तो वे हैं जो विश्वजनीन हैं, सर्वोपकारी हैं। इसके दस प्रकार किये गये हैं, जिनका उल्लेख मनुस्मृति में स्पष्टत: यों है-

धृति: क्षमा दमोऽस्तेय: शौचमिन्द्रियनिग्रह:।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

'धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों का नियन्त्रण, विवेक, विद्या, सत्य और क्रोध न करना- ये दस धर्म के रूप हैं। इनका विस्तार-विश्लेषण श्रीमद्भागवत में तीस तत्त्वों से किया गया है और उन तीस क्रियाओं को जीवन की अपरिहार्य क्रियाओं की भाँति अपनाना निष्कामकर्मयोग है। इसी भाव को ईशावास्योपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है कि-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

'शास्त्रबोधित कर्म धर्मानुष्ठान करते हुए सौ वर्ष (अपनी पूरी आयु) तक जीने की इच्छा रखो। संसार के झंकोरों से ऊबकर बीच में अपने जीवन को निःसार समझकर उसे मत त्यागो। फलबुद्धि के लक्षण से हीन त्रयी के अनुष्ठान से वेद-प्रतिपादित कर्मों के आचरण से मनुष्य में कर्म का लेप-जो पाप-पुण्य, नरक-स्वर्ग, सुख-दुःख भोग का कारण बनता है, वह-न होगा। इससे अतिरिक्त अन्य कोई कर्म-लेप के अभाव का प्रशस्त पथ नहीं है। भगवान ने श्रीमद्भगवद्गीता में स्पष्ट शब्दों में इसी दिशा में चलने के लिये कहा है-

'तस्मादसक्त: सततं कार्यं कर्म समाचर'

अर्थात्-कर्मफल में आसक्ति न रखकर शास्त्र-निर्दिष्ट कर्तव्यकर्ममात्र लगे रहो। फलेच्छा से रहित होकर केवल कर्तव्यकर्ममात्र लोकसंग्रह अथवा भगवदर्पण-बुद्धि से करने पर कर्मों का लेप नहीं होता— कर्मबन्धन नहीं होता। इसी पद्धति को निष्काम-कर्मयोग कहा गया है, यह निश्चय ही मोक्ष का द्वार है।

■ ■ ■

विपत्तियाँ विचार जन्य तथा विचार रूप हैं। विचारों का परित्याग करो। यही ध्यान है, यही सुख है। ध्यान से अभिप्राय विचारों के निष्कासन से है। आत्म रूप में रहो, विचार समाप्त हो जायेंगे।

जीवात्मा व परमात्मा का नित्य संबंध

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पंचाग्नयो ये त्रिणाचिकेता:॥

(कठोपनिषद् 3/1)

अर्थात् – शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप मनुष्य शरीर में उत्तम निवास स्थान (हृदय- आकाश) में बुद्धिरूप गुफा में छिपे हुए सत्य का पान करने वाले दो है। वे छाया और धूप की भाँति परस्पर भिन्न है। यह बात ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महापुरुष कहते है। जो तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन कर लेने वाले और पंचाग्नि सम्पन्न गृहस्थ है वे भी यही बात कहते है।

व्याख्या – ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महानुभाव तथा यज्ञादि शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने वाले आस्तिक सज्जन सभी एक स्वर से यही कहते हैं कि यह मनुष्य शरीर बहुत दुर्लभ है। पूर्वजन्मार्जित अनेकों पुण्य कर्मों को निमित्त बनाकर परम कृपालु परमात्मा कृपा परवश हो जीव को उसके कल्याण सम्पादन के लिए यह श्रेष्ठ शरीर प्रदान करते है और फिर उस जीवात्मा के साथ ही स्वयं भी उसी के हृदय के अन्तस्तल में परब्रह्म के निवास स्वरूप श्रेष्ठ स्थान में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट हो रहते है। इतना ही नहीं वे दोनों साथ ही साथ वहाँ सत्य का पान करते है। शुभ कर्मों के अवश्यंभावी सत्फल का भोग करते है। अवश्य ही दोनों के भोग में बड़ा अन्तर है। (परमात्मा असंग और अभोक्ता है) उनका प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करके उसके शुभ कर्मों के फल का उपभोग करना उनकी वैसी ही लीला है, जैसी अजन्मा होकर जन्म ग्रहण करना। इसलिए यह कहा जाता है कि वे भोगते हुए भी वस्तुतः नहीं भोगते। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि परमात्मा सत्य को पिलाते है – शुभ कर्मफल भुगताते है और जीवात्मा पीता है –फल भोगता है। परन्तु जीवात्मा फल भोग के समय असंग नही रहता। वह अभिमानवश उसमें सुख का उपभोग करता है। इस प्रकार साथ रहने पर भी जीवात्मा और परमात्मा दोनों छाया और धूप की भाँति परस्पर भिन्न है। जीवात्मा छाया की भाँति अल्प प्रकाश–अल्पज्ञ है और परमात्मा धूप की भाँति पूर्ण प्रकाश – सर्वज्ञ। परन्तु जीवात्मा में जो कुछ अल्प ज्ञान है, वह भी परमात्मा ही है, जैसे छाया में अल्प प्रकाश पूर्ण प्रकाश रूप धूप का ही होता है।

इस रहस्य को समझ कर मनुष्य को अपने में किसी प्रकार की भी शक्ति सामर्थ्य का अभिमान नहीं करना चाहिये और अन्तर्यामी रूप से सदा सर्वदा अपने हृदय में रहने वाले परम आत्मीय परम कृपालु परमात्मा का नित्य निरन्तर चिंतन करते रहना चाहिये।

■ ■ ■

श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र
श्री सिद्धगुफा, सवाँई (एत्मादपुर)

का

यौगिक सत्साहित्य

पुस्तक का नाम	मूल्य
1. योग सिद्धान्त, भाग–1	रु. 100.00
2. योग सिद्धान्त, भाग–2	रु. 100.00
3. मेरी निजानुभूतियाँ	रु. 10.00
4. योग–रोग–योग	रु. 10.00
5. जीवन तत्व (बड़ा)	रु. 15.00
6. जीवन तत्व (छोटा)	रु. 5.00
7. ब्रह्मचारी गोपालानन्द जी	रु. 10.00
8. योगिराज मुल्खराज जी	रु. 10.00
9. प्रभुजी की स्वहस्तलिखित कथायें	रु. 20.00
10. मन की एकाग्रता के साधन	रु. 7.00
11. आठ योगी	रु. 10.00
12. योग क्यों – कैसे	रु. 7.00
13. गुरु गीता	रु. 10.00
14. योगी की अतुलित शक्ति	रु. 7.00
15. सुधा संगीत	रु. 5.00
16. योग क्या ?	रु. 5.00
17. यम–नियम	रु. 7.00
18. यौगिक षट्कर्म	रु. 5.00
19. सचित्र योगासन	रु. 20.00
20. समाधिस्था योगनियाँ	रु. 10.00
21. योग रामायण	रु. 20.00

पुस्तक का नाम	मूल्य
22. योगेश्वर चरित्रमाला	रु. 5.00
23. सर्वसमर्थ गुरुदेव	रु. 7.00
24. अद्भुत महायोगी	रु. 10.00
25. सद्गुरु संकीर्तन भजनमाला	रु. 5.00
26. योग अमृत भजनावली	रु. 5.00
27. दीदी के भजन	रु. 5.00
28. मेरा सवाँई आगमन	रु. 7.00
29. सवाँई के चमत्कार	रु. 10.00
30. अध्यात्म भजनावली–1	रु. 5.00
31. अध्यात्म भजनावली–2	रु. 5.00
32. अध्यात्म भजनावली–3	रु. 5.00
33. अध्यात्म भजनावली–4	रु. 5.00
34. अध्यात्म भजनावली–5	रु. 5.00
35. Life Force	रु. 10.00
36. योगासन चित्रपट	रु. 10.00
37. योगासन चित्रपट (छोटा)	रु. 5.00
38. महायोगी की लोकयात्रा	रु. 100.00
39. गुरुदेव वचनामृत (तीन खण्डों में)	रु. 100.00
40. सद्गुरु कृपालीला, भाग–1	रु. 35.00
41. सद्गुरु कृपालीला, भाग–2	रु. 40.00
42. चरणोदक	रु. 10.00

उपरोक्त पुस्तकें आश्रम पर स्वयं आकर अथवा डाक द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं।
डाक एवं पैकिंग खर्च पाठकों को स्वयं वहन करना होगा। – व्यवस्थापक

मीडिया पोस्ट

हृदय स्पर्शी सेवा

उत्पाद (ब्राण्ड) को बाजार में स्थापित करने के लिए एक अनोखी एवं प्रभावशाली योजना -

निम्न माध्यमों से विज्ञापन की सुविधा

1. डाक वस्तुओं पर प्रवेश आकार (स्थान सहित) का विज्ञापन
2. लैटर बॉक्सों पर स्थान का आयोजन (स्पॉन्सरशिप)
3. पेन्ट पार्टी पर स्थान का आयोजन (स्पॉन्सरशिप) दर : रु. 1000 प्रति पैनल प्रतिमाह पेंटिंग चार्ज रु. 600.00 प्रति पैनल
4. डाकघर परिसर में होर्डिंग लगाकर विज्ञापन दर रु. 5.50 प्रति वर्ग फीट प्रति माह
5. डाकघर के अन्दर या बाहर ग्लोसाइन बोर्ड अथवा पोस्टर लगाकर विज्ञापन दर रु. 100/- प्रति वर्ग फुट प्रति माह
6. डाकघर के पतों पर स्टाम्प कैंसिलेशन की डाई लगाकर विज्ञापन दर मात्र 100/- प्रति डाई प्रतिदिन डाई का मूल्य रूप 600/-
7. मेघदूत पोस्ट कार्ड के माध्यम से विज्ञापन अर्थात् पोस्ट कार्ड के आधे भाग पर उत्पादों का विज्ञापन : दर रु. 2/- प्रति पोस्ट कार्ड। मेघदूत पोस्ट कार्ड का विक्रय मूल्य केवल 25 पैसे मात्र।

SIDDHYOG Postal Regd. No.: Ag. 19/06-08

JUNE 2007

प्रधान कार्यालय

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
आध्यात्म का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धयोग योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER

BOOK-POST

श्री/सुश्री

संस्थापक :- योगयोगेश्वर अन्तर्यामी चन्द्रमोहन जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. रामलाल शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एवं प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566. सम्पादक : आचार्य ब्र. (डॉ.) रामलाल शर्मा